

योगविचार

योगविन्दयोग पर अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह

पहला भाग

सम्पादक
डा इन्ग्रेडेन
बीबएचिन्स नाथन पात्रिबेरी

प्रकाशक
बचिपि कार्यालय
बीबएचिन्स नाथन पात्रिबेरी

विषयसूची

जीवन और योग	श्रीअरविन्द	१
योग का उद्देश्य	श्रीनलिनीकान्त गुप्त	२२
योग का अधिकार और दीक्षा	श्रीनलिनीकान्त गुप्त	२७
योग	श्रीअनिलवरण राय	३६
अभीप्सा	श्रीअनिलवरण राय	४०
मनोविज्ञान और योग	डा इन्द्रसेन	४४
पूर्णयोग की साधना	श्रीमदनगोपाल गाढोदिया	६७
पूर्णयोग-विचार	श्रीशुद्धानन्द भारती	८३
श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग	श्रीअम्बालाल पुराणी	१०६
गीता में अनासक्ति-योग	श्रीअनिलवरण राय	१२३
श्रीअरविन्द की योगपद्धति		
और पातञ्जल योग	आचार्य अभयदेव	१४४
योगभय	आचार्य अभयदेव	१६३
प्रश्नोत्तरी	श्रीनारायणप्रसाद	१६८
गीता में योगसमन्वय	श्रीअनिलवरण राय	१७३
श्रीअरविन्द की साधनशैली	डा इन्द्रसेन	१७८

भूमिका

मानव प्रकृति क्या है, इसके प्रेरक-भाव क्या हैं, इसका यथार्थ स्वरूप क्या है ? ये मानव के लिये प्रत्यक्षत बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। अपने आपको जाने बिना भला वह अपनी वृत्तियों-प्रवृत्तियों को कैसे मर्यादा में लावे और समाज में अन्यो के साथ निर्वाह कैसे चलावे ?

परन्तु अनुभव और गवेषणा हमें यह स्थूल सत्य शीघ्र ही बतला देती है कि मनुष्य सामान्यतया काम क्रोध लोभ मोह अहंकार सग्रह आदि की वृत्तियों से प्रेरित होता है, और जिन्हें हम आदर्श-भावना कहते हैं, नि स्वार्थता अथवा निष्कामता कहते हैं, सार्वभौम हित-चिन्तन और प्रेम-भाव कहते हैं वे हमारे व्यवहार में अपेक्षाकृत बहुत ही कम अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिये बारबार हमें स्वीकार करना पड़ता है 'क्या करे मनुष्य-प्रकृति ही ऐसी तुच्छ है'। आदर्श को हम स्वीकार करते हैं परन्तु, व्यक्ति हो अथवा समाज, हमारा नित्य कटु अनुभव वह एक ही है—मानव काम-क्रोध के अधीन होकर तुच्छ, रागद्वेष में पड़ जाता है।

बलपूर्वक प्रश्न उठता है, क्या मानव-प्रकृति बदली नहीं जा सकती ? साधारणतया शिक्षा का उद्देश्य ही यही है कि बच्चे को उसकी स्वच्छन्द इच्छाओं की अराजकता से निकालकर उसे सभ्य समाज के योग्य एक सज्जत व्यक्ति बनाया जाय। परन्तु एक प्रौढ़ व्यक्ति बच्चे की अराजकता से कितना कुछ अधिक शिष्ट हो जाता है ? वह कथन 'Scratch the modern man and you will find a

savage in him—'आधुनिक मनुष्य को तुम जरा दूरेको उसके नीचे से बर्बर निकस आया' वास्तव में सत्य है। हमारी सभ्यता और हमारा संयम अधिकांश में समाज के भय से निर्धारित है, वे पुनः हमारी पाल बराबर ही पहले हमने प्रवेश कर पाये हैं। श्री अरविन्द का एक वाक्य है—The average human being is in his inward existence as crude and undeveloped as the primitive man was in his outward life अर्थात् औसत मानव प्राणी अपनी आन्तरिक सत्ता में उतना ही असंस्कृत और अविभक्त है जितना कि आदिम मनुष्य अपने बाह्य जीवन में था।

बाह्य व्यवहार की विप्लवता काफी नहीं। अन्दर की वृत्तियों में बड़ी संयम और सत्य चरित्राई होना चाहिये। मैं भय से दूसरे के मन को न लूँ न मैं सहज स्वामादिक प्रवृत्ति से भी दूसरे के मन की जासूसी न करूँ। केवल कभी किसी विचारशीलता की पड़ी में ही मैं यह न स्वीकार करूँ कि हमें सब काम सर्वहित से प्रेरित होकर करने चाहिये बल्कि सामान्यतया निज हित सदा सर्वहित में ही दिखायी दे।

यह मानव प्रकृति के समुक्त स्वातन्त्र्य का प्रश्न है और इसमें संदेह नहीं कि इस प्रश्न के हल में वास्तव में मानव के सब प्रश्नों का हल निहित है।

वर्तमान समय में कार्ल मार्क्स ने Can human nature be changed?—क्या मनुष्य-प्रकृति परिवर्तित की जा सकती है? प्रश्न को उत्तरकर बड़ी मौलिकता का प्रमाण दिया है। उसका साहसपूर्ण उत्तर है 'हां मनुष्य-प्रकृति बदली जा सकती है'। परन्तु वह परिस्थिति के बदलने से बदली जायगी। जब निजी सम्पत्ति रहेगी ही नहीं तो बीरे बीरे मनुष्य की संगठन करने की वृत्ति ही बाती रहेगी। परन्तु क्या यह संभव है? बन न हो परन्तु उसकी प्राप्ति की पुष्पा बराबर हो तो संगठन-वृत्ति कैसे कूटेगी?

भारतीय सस्कृति ने वृत्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को शुरू से ही स्वीकार किया था। धन में वचित हो जाने से नहीं बल्कि धन को स्वयं त्याग करने पर भी वृत्ति से छुटकारा नहीं होता। उससे छुटकारा तो वृत्ति के त्याग से होगा। अपने आपको पूर्णतया ईश्वर के प्रति समर्पण करने से होगा। यह है सामान्य भारतीय योगविद्या का उत्तर।

परंतु वृत्ति का समूल रूपांतर वास्तव में श्रीअरविन्द के योग में एक पूरा विज्ञान बन गया है और उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा और गवेषणा का विशेष लक्ष्य ही है मानव की अपरा प्रकृति को परा प्रकृति में परिवर्तित करना। काम-श्रोध-लोभ-मोह-प्रेरित स्वभाव को उदार, राग-द्वेषमुक्त, प्रेमपूर्ण, शुद्ध, शुद्ध स्वरूप में परिवर्तित करना। बड़ा कठिन काम है, अत्यन्त कठिन काम है। साधारणतया इसे असंभव ही माना जायगा। परंतु ठीक यही काम है, यही अपूर्व उद्देश्य है जिस-पर श्रीअरविन्द की सारी शक्ति केन्द्रित है और जिसे वे सर्वथा संभव मानते हैं। इसी असाध्य कार्य को सिद्ध करने के लिये वे विश्वासपूर्वक यत्नशील हैं और इसका साधन है उनकी योगशैली जिसे उन्होंने अनुभव और परीक्षण द्वारा भारतीय आध्यात्मिक इतिहास के लिये एक अपूर्व आदर्श मर्यादा बना दिया है।

उसी योगशैली के कुछेक निरूपण इस पुस्तक में उपस्थित हैं। पहला लेख श्रीअरविन्द का है जो कि उनके बृहत् ग्रन्थ 'दिसिन्थिसिज ऑफ योग' के शुरू के ५ अध्यायों के साररूप खंडों का अनुवाद है। बाकी के लेख प्रायः सभी अदिति पत्रिका में से लिये गये हैं और ऐसे महानुभावों के लिखे हुए हैं जो क्रियात्मक रूप से योग में प्रवृत्त हैं और विषय का कुछ अनुभव रखते हैं। "श्रीअरविन्द की साधनशैली" तथा "गीता में योगसमन्वय" पहले 'मानव धर्म' में प्रकाशित हुए थे।

हमें विश्वास है पाठक योगविषयक इन सब लेखों को एक जगह प्राप्त कर प्रसन्न होंगे।

—इन्द्रसेन

श्री आचार्य विनयचन्द्र शान भण्डार, जयपुर

योगविचार

जीवन और योग

समन्वय के मौलिक सिद्धान्त*

अगर हम जीवन और योग दोनों को ठीक प्रकार से देखें तो सपूर्ण जीवन ही या तो सचेतन रूप से या अवचेतन रूप से योग है। क्योंकि इस शब्द से हमारा मतलब है अपनी सत्ता में प्रसुप्त क्षमताओं के आविर्भाव द्वारा आत्म-परिपूर्णता की दिशा में व्यक्ति का विधिवद्ध प्रयत्न और मानव-व्यष्टि का उस विश्वव्यापी तथा परात्पर सत्ता के साथ मिलन जिसे कि हम मनुष्य में और विश्व में अशत अभिव्यक्त देखते हैं। परन्तु जीवन को उसकी प्रतीतियों के पीछे जाकर देखने पर सारा जीवन ही प्रकृति का विशाल योग दिखाई देता है,—उस प्रकृति का जो अपनी सभाव्यशक्तियों के सदा-वृद्धिशाली आविर्भाव में अपनी पूर्णता साधित करने और अपनी ही दिव्य वास्तविक सत्ता के साथ

*‘योग-समन्वय’ (‘The Synthesis of Yoga’) श्रीअरविन्द का विस्तृत व्याख्यापूर्ण स्वानुभव-सिद्ध योग-दर्शन है। सजीव, वर्तमान, अनुभव-जनित तथा विस्तृत-व्याख्या-पूर्ण होने से वर्तमान युग के जिज्ञासु इसे विशेष सहायक पाते हैं। परन्तु यह रचना अभी पुस्तक

योगविचार

अपने आपको एक करने का प्रयास कर रही है। मनुष्य में अपने विचारशील प्राणी में यह इस पृथ्वी पर पहली बार किया के उन महत्त्व-सम्पन्न साधनों और इच्छाशक्तियुक्त प्रभावों को आयोजित कटी है जिस द्वारा यह महान् प्रयोजन अधिक द्रुत और प्रबल गति से पूरा हो सके।

तो योग की कोई विचारशील पद्धति इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकती कि यह उन सामान्य विधियों का अधिक संकुचित वर अधिक सन्तुष्ट लौकिक कर्तव्यों में संघट्ट हो या संतुष्ट संघाट हो जिन्हें कि महान् माता अपने विशाल ऊर्ध्वमुख प्रवास में सिंचितता पूर्वक विस्तृत रूप में मनुष्य गति के रूप में सामान्य और सन्तुष्ट के प्रतीक-पान प्रचुर रूप के साथ किन्तु अधिक पूर्ण वेग के साथ पहले ही प्रयुक्त कर रही है।

भारतवर्ष में हम यह देखते हैं कि ऐश्वरीय जीवन और आध्यात्मिक उन्नति व पूर्वजा के बीच हीन वर्गगति उत्पन्न कर दी गयी है।

रूप में प्राप्त नहीं। यह अन्तरेली की 'आर्य' पद्धति में धारवाही रूप में प्रकाशित हुई थी और आज विमानुर्जों के पास आर्य की धारवाही या धारवाही की हुई गति के रूप में देखने में आती है। संतुष्ट रचना महान् चीज है जिस के ५ प्रधान मान हैं—सूक्ति कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और आत्मसिद्धि-योग। और ये सब मात्र ७४ अध्यायों में समाप्त हुए हैं।

यहां 'योग-सम्पन्न' के धारवाही मूल धार्यों का अनुवाद देने का यत्न किया गया है। मूल में वे धरे और भाष्य चुनने में वही इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि प्रधान विचार लक्ष्य या भाष्य वही इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि विषय में प्रवाह और सन्तुष्ट अन्तर्गत उन्नति रहे। —भाष्य

जीवन और योग

और यद्यपि आंतरिक आकर्षण व बाह्य जीवन की माग में विजयशाली सामाज्य की परम्परा और आदर्श अब भी जीवित हैं, तथापि वह ज्वलत दृष्टांत के रूप में उपस्थित नहीं।

यह विचार इतनी प्रबलता से फैला है, प्रचलित दर्शनो और धर्मों ने इसपर इतना अधिक दल दिया है कि जीवन से भाग जाने की क्रिया को आजकल आम तौर से ऐसा समझा जाता है कि यह न केवल योग की आवश्यक अवस्था है अपितु उसका सामान्य ध्येय है। योग का कोई भी ऐसा समन्वय सतुष्टिकारक नहीं हो सकता जो, अपने लक्ष्य में, परमेश्वर और प्रकृति को उन्मुक्त तथा पूर्णताप्राप्त मानव-जीवन के अन्दर फिर से मिला न दे अथवा, अपनी पद्धति में, हमारी आंतर तथा बाह्य क्रियाओं व अनुभवों दोनों की दिव्य चरम स्थिति में होने वाली समस्वरता को स्थान न देता हो और उसका समर्थन न करता हो।

योग का सच्चा तथा पूरा उद्देश्य और उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती हैं जब कि मनुष्य में होने वाला सचेतन योग प्रकृति में हो रहे अवचेतन योग की भांति स्वयं जीवन के साथ बाहरी तौर पर सर्वथा सहवर्ती हो जाय और हम मार्ग तथा साफल्यप्राप्ति दोनों पर दृष्टिपात करते हुए एक बार फिर, अधिक पूर्ण और विशद भाव में, यह कह सके “सम्पूर्ण जीवन ही योग है”।

मनुष्य में प्रकृति का प्रगतिशील आत्म-अभिव्यक्तिकरण, जिसे आधुनिक भाषा में उस (मनुष्य) का विकास कहा जाता है, अवश्य ही तीन क्रमिक तत्त्वों पर आश्रित होना चाहिये, एक तो वह जो पहले से ही विकसित है, दूसरा वह जो निरंतर स्थिरतापूर्वक, चेतन विकास की क्रमावस्था में से गुजर रहा है और तीसरा वह जिसे विकसित होना है पर जो, अगर सतत स्थिरता के साथ नहीं तो कभी कभी या आवर्तन की किसी न किसी नियमितता के साथ, प्रारम्भिक रूप-रचनाओं में या किन्हीं दूसरी अधिक विकसित रचनाओं में शायद पहले से

ही प्रदर्शित किया था सचता है और, यह भी मसीमांति संभव है कि कुछेक ऐसी रचनाओं में भी वह तत्त्व प्रकट हो जो रचनाएं विरली गते ही हों पर हमारी वर्तमान मानवता की ऊंची से ऊंची संभव उपलब्धि की निष्कटवर्तिनी हों ।

प्रकृति ने हमारे किये जो तत्त्व विकसित तथा बुद्धतया प्रतिष्ठित किया है वह है सारीरिक जीवन । उसने पृथ्वी पर हमारी किया और प्रगति के जो हीन किन्तु अत्यन्त आधारभूत एवं आवश्यक तत्वों का विशेष प्रकार का संयोग और उनकी सुसंपत्ति साधित की है — उनमेंसे एक है वह प्रकृति जो हमारी सभी शक्तियों और उपलब्धियों का आधार और सर्वप्रथम आवश्यक नियम है, चाहे बड़ीय सूक्ष्मतया आध्यात्मिक व्यक्ति उसे ज्ञान की दृष्टि से यथ ही देखे और दूसरा तत्त्व है जीवन-शक्ति जो वह प्राकृतिक सरीर में हमारे अस्तित्व का साधन है और वहां हमारी मानसिक तथा आध्यात्मिक क्रियाओं का भी आधार है । उस (प्रकृति) ने अपनी सतत एकप्रकृतिवत् पति की एक विशेष स्मरणा सफळतापूर्वक साधित की है जो पर्याप्त बड़ और स्वासी भी है और साथ ही पर्याप्त सुनम्य और परिवर्तनयोग्य भी बिनासे कि वह मानवता में उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकट हो रहे ईश्वर के किये उपबुद्ध निवास-नाम और उपकरण का काम वे सकती है । यही अग्नि ग्राम है ऐतरेय उपनिषद् की उस कथा का जो हमें बताती है कि देव ताओं ने उन सब पद्माकृति रूपों में प्रवेश करने से इनकार कर दिया जो दिव्य आत्मा ने उनके सामने एक एक करके प्रस्तुत किये और जब उसने मनुष्य रूपम किया तभी वे चिन्तय पड़े "मिथवेह यह पूर्वजा-मुक्त बना है" और उन्होंने उसमें प्रवेश करना स्वीकार किया ।

जो अगर वह हीनतर संतुलन उन उच्चतर शक्तियों का आधार और प्रथम साधन है जो वैयक्त शक्ति की विस्तार बुद्धि में विद्यमान है और यदि इससे वह आधार बनता है जिसमें मनवान् अपने भाष

जीवन और योग

को यहा प्रकाशित करना चाहते हैं, यदि यह भारतीय उक्ति सत्य है कि शरीर एक यन्त्र है जो हमारी प्रकृति के यथार्थ नियम को चरितार्थ करने के लिये हमें दिया गया है, तो भौतिक जीवन से किसी भी प्रकार की अंतिम निवृत्ति अवश्यमेव दिव्य ज्ञान की पूर्णता से पराङ्मुखता ही होगी और पार्थिव अभिव्यक्तिकरण में निहित उसके उद्देश्य का निराकरण रूप होगी। इस प्रकार का निराकरण कुछ व्यक्तियों के लिये, उनके विकास के किसी गुह्य नियम के कारण, यथार्थ वृत्ति रूप हो सकता है किंतु वह मनुष्यजाति के लिये अभिप्रेत लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। अतः जो योग शरीर की अवज्ञा करता अथवा उसके विलोप या उसके निराकरण को पूर्ण आध्यात्मिकता के लिये अपरिहार्य बना डालता है वह कोई सर्वांगपूर्ण योग नहीं हो सकता वरच, शरीर को भी पूर्ण बनाना आत्मा की अन्तिम विजय होनी चाहिये और शारीरिक जीवन को भी दिव्य बनाना, अवश्य ही विश्व में, ईश्वर की अपने कार्य पर अंतिम छाप होनी चाहिये। अधिभूत अध्यात्म के सम्मुख जो बाधा उपस्थित करता है वह अधिभूत के निराकरण की कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि वस्तुओं के अदृष्ट 'विधान' में हमारी बड़ी से बड़ी कठिनाइया भी हमारे अच्छे से अच्छे सुयोग होते हैं। बहुत बड़ी कठिनाई, जीती जाने वाली परम विजय का और हल होने वाली अन्तिम समस्या का प्रकृतिकृत मकेत होता है, वह किमी ऐसे दुर्मेघ पाश की चेतावनी नहीं होती जिससे हमें वचना है, न ही किसी ऐसे शत्रु की चेतावनी होती है जो हमारे मुकाबले में बहुत जवर्दस्त है और जिस के सामने से हमें अवश्य ही भाग जाना चाहिये। अगर शारीरिक जीवन वह जीवन है जिसे कि प्रकृति ने अपने आधार और प्रथम उपकरण के तौर पर हमारे लिये दृढतया विकसित किया है, तो वैसे ही अब वह हमारे मानसिक जीवन को अपने एकदम अगले लक्ष्य और उत्कृष्टतर करण के रूप में विकसित कर रही है।

योगविचार

अतएव सच्चा मानव-जीवन केवल तब प्रारंभ होता है जब स्मृत भौतिक आचार में से बौद्धिक मानसिकता उत्पन्न हो जाती है और हम सामाजीय तथा भौतिक आवेस से मुक्त होकर, मन में अधिकाधिक निवास करने लगते हैं और उस स्वतंत्रता की मांग क अनुसार मरीर के जीवन को ठीक प्रकार से स्वीकार करने और ठीक प्रकार से ही हस्तेमाल करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि प्रभुत्व का सच्चा साधन ही है स्वतंत्रता न कि चातुरीपूर्ण बखीकरन। मनुष्य में इस प्रकार विकसित होता हुआ मानसिक जीवन निम्नलिखित सर्वसाधारण के अविचार की वस्तु नहीं बना है।

सम्य मनुष्य को सभी पूर्णतया क्रियाशील मन और शरीर के बीच संतुलन स्थापित करना है वह सभी सामान्य शीर पर उभे प्राप्त नहीं है। निम्नलिखित, अधिक प्रवाह मानसिक जीवन के लिये बुद्धि धात्री प्रयत्न बहुधा मानवीय उत्तमों के वर्तमान अवसुत्तन को पैदा करता प्रतीत होता है यहाँ तक कि प्रख्यात वैज्ञानिकों के लिये प्रतिभा का यह प्रकार दर्शा कर रहा हो जाता है कि यह उम्माद का रूप है, जीवनन का परिणाम है, प्रकृति का योगव्यवहार है।

प्रतिभा वैदिक क्षति का एक प्रयत्न है जिससे कि वह हमारे बौद्धिक क्षमताओं को इस प्रकार हट और तीव्र कर सके कि वे उन अधिक बहुपुर्ण साक्षात् और निप्रतामुक्त क्षमताओं के लिये तैयार हो पायें जो अति-बौद्धिक या दिव्य मन की पीड़ा को विरचित करती है। तो यह महत्विक्रम का व्यतिरेक नहीं है कोई अन्व्याकमेय बुद्धिबल नहीं है बल्कि प्रकृति के विकास की प्रवर्ध विद्या में पूर्णतया स्वाभाविक अगता पा है। उसने धार्मिक जीवन को स्मृत मन के साथ समस्वर किया है वह इसे बौद्धिक मानसिकता की पीड़ा के साथ समस्वर कर रही है उसके लिये यद्यपि वह ग्रीह पशुपुस्य और प्राकृतिक बल की बल स्रष्ट करने की प्रकृति रखती है तो भी वह हलचलमुक्त उभकपुस्य

पैदा नहीं करती और उसे वैसा करने की जरूरत भी नहीं। और अभी इससे भी उच्चतर स्तर पर पहुँचने के प्रयत्न में वह और भी परे तेजी से बढ़ी चली जा रही है। उसकी क्रियापद्धति से उत्पन्न उत्पात उतने महान् हैं भी नहीं जितने महान् रूप में वे प्रायः पेश किये जाते हैं। उनमेंसे कई तो नयी अभिव्यक्तियों के असंस्कृत उपक्रम मात्र होते हैं, अन्य कई विघटन की सुगमतया सशोधित गति रूप होते हैं जो विघटन-गति कि प्रायः नयी क्रियाओं के फल को लाने वाली होती है, और जो दूरगामी परिणाम प्रकृति की दृष्टि में हैं उनके बदले में देने के लिये वह सदा ही अल्प मूल्य होती है।

यदि मन सचमुच प्रकृति की उच्चतम सीमा हो, तब तो तार्किक और कल्पनाकुशल बुद्धि का पूर्ण विकास और भावों तथा संवेदनशीलताओं की समस्वर तृप्ति अपने आपमें पर्याप्त होनी चाहियें। पर अगर, इसके विपरीत, मनुष्य तर्ककारी और भावुक प्राणी से अधिक कुछ है, अगर, जो कुछ विकसित किया जा रहा है उससे परे भी ऐसा 'कुछ' है जिसे कि विकसित किया जाना है तब यह भलीभाँति संभव है कि मानसिक जीवन की पूर्णसमृद्धता, बुद्धि की सुनम्यता, लचक और विस्तीर्ण सामर्थ्य, भाव और संवेदनशीलता की नियमक्रमयुक्त समृद्धता उच्चतर जीवन के विकास की ओर ले जाने वाला पथ मात्र हो, तथा उन अधिक शक्तिशाली क्षमताओं की ओर ले जाने वाला पथ हो जिन्हें कि व्यक्त होना है और निम्नतर करण पर अभी अधिकार करना है ठीक वैसे ही जैसे कि स्वयं मन ने शरीर पर इस प्रकार अधिकार कर लिया है कि भौतिक सत्ता अब केवल अपनी तृप्ति के लिये नहीं जीती है किंतु उत्कृष्टतर क्रिया के लिये आधार और सामग्री प्रदान करती है।

मानसिक जीवन से अधिक ऊँचे जीवन की प्रबल स्थापना भारतीय दर्शन का संपूर्ण आधार है और उसकी प्राप्ति तथा संगठन ही है

यह वास्तविक उद्देश्य जो योग की पद्धतियों द्वारा संपादित किया जाता है। मन विकास की अन्तिम सीमा नहीं है, यह चरण अन्त नहीं, रिगु शरीर की तरह चरण मात्र है। योग की भाषा में इसे अन्तःकरण अर्थात् आत्मन्तर चरण ऐसा पारिभाषिक नाम भी दिया गया है।

तो फिर जिस उच्चतर या उच्चतम जीवन-सत्ता की ओर हमारा दिशास गति कर रहा है वह सत्ता किस वस्तु से बनी हुई है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें उन अत्युच्च अनुभवों की खोजी का तथा उन असाधारण बीजों की खोजी का उन्मूलन करना है जिन्हें प्राचीन संस्कृत-भाषा के सिवा किसी अन्य भाषा में ठीक ठीक प्रकट करना कठिन है केवल संस्कृत भाषा में ही वे किसी हद तक समझ दिये गये हैं। उनके लिये अंग्रेजी भाषा में एकमात्र निकटवर्ती शब्द हृत्तर संस्कारों को लिये हुए है और उनका प्रयोग अनेक वहाँ तक कि पम्पीर मछलियों का कारण बन सकता है। योग का परिभाषाविज्ञान हमारी उस अज्ञ-मय और प्राथम्य सत्ता की स्थिति के अतिरिक्त जिसे स्वप्न शरीर कहते हैं और जो अज्ञमय कोष तथा ज्ञानमय आचार इन दोनों से बनी हुई है, हमारी उस मूलभूत सत्ता की स्थिति के अतिरिक्त जिसे सूक्ष्म शरीर का नाम दिया गया है और जो अकेले मनोमय कोष या मानसिक आचार से बनी हुई है, एक तीसरी अतिमानसिक सत्ता की परम और दिव्य स्थिति को स्वीकार करता है जिसे कारण शरीर कहते हैं और जो चतुर्थ और पंचम आचारों से बनी हुई है जिन भाषाओं को ज्ञान और ज्ञानर के कोष कहकर वर्णित किया गया है। परंतु यह ज्ञान मूल-भूत विश्वासों और तर्कानुक्तियों का समग्र परिणाम नहीं है न ही यह परिणामों और सम्मतिओं का उच्चतम संभाव्यता की परिभाषा में अस्थायी कमविश्वास है, बरब विमुख स्वतंत्रता तथा प्रकाशमान सत्य है। इसी प्रकार यह ज्ञानर भी हृदय तथा इन्द्रिय-धर्मियों का अत्युत्कृष्ट हर्ष नहीं है— ऐसा हर्ष जो कि दुःख-दर्द के अनुभव को

जीवन और योग

अपनी पृष्ठभूमिका के रूप में लिये होता है, बल्कि आनन्द भी स्वतःसत् और बाह्य पदार्थों तथा विशेष अनुभवों से स्वतन्त्र है, ऐसा आत्म-आनन्द है जो, स्वभावतः, परात्पर और अनन्त सत्ता की असली प्रकृति, उसका असली उपादानतत्त्व ही है।

तो क्योंकि प्रकृति नित्य तथा निगूढ सत्ता का विकास या प्रगति-शील आत्म-अभिव्यक्तिकरण है और उक्त तीन क्रमिक रूप उसके आरोहण के तीन कदम हैं, अतः हमारी सब क्रियाओं की आवश्यक शर्त के रूप में हमारे सामने ये तीन परस्पराश्रित समावनाएँ हैं,—शारीरिक जीवन, मानसिक जीवन और आवृत आध्यात्मिक सत्ता जो निर्वर्तन में तो शारीरिक व मानसिक जीवन का कारण है और विकास में उनका परिणाम है। भौतिक जीवन को सुरक्षित रखते हुए और पूर्ण बनाते हुए, तथा मानसिक जीवन को पूर्णतया कृतार्थ करते हुए, पूर्णताप्राप्त शरीर और आत्मा में मन की लोकोत्तर क्रियाओं को प्रकट करना प्रकृति का लक्ष्य है और यही हमारा भी लक्ष्य होना चाहिये। जैसे कि मानसिक जीवन शारीरिक जीवन को तिलाजलि नहीं दे देता बल्कि उसको उदात्त बनाने और उसका अधिक उत्तम उपयोग उठाने के लिये प्रयत्न करता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन को भी हमारी बौद्धिक, भावमय, सौंदर्योपासक तथा प्राणमय क्रियाओं को नष्ट नहीं कर देना चाहिये अपितु उन्हें रूपांतरित कर देना चाहिये।

प्रकृति में तीन प्रकार के जीवन—साधारण भौतिक जीवन, मानसिक क्रिया और उन्नति का जीवन और अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक आनन्द का जीवन—का पृथक् पृथक् रूप-गठन होने के फलस्वरूप, मनुष्य के सामने उन तीनों के बीच चुनाव का मार्ग खुला है। परन्तु वह, जैसे जैसे उन्नति करता है वैसे वैसे वह इन तीनों रूपों को मिला सकता, इनकी विषमताओं को समस्वर ताल में परिणत कर सकता और इस प्रकार अपने आपमें समग्र परमेश्वर को, पूर्ण मनुष्य को जन्म दे सकता

है। शारीरिक जीवन की विविष्ट शक्ति जितनी अधिक पूर्वास्थिति को दुःखापूर्वक कायम रखने में है उतनी उत्पत्ति करने में नहीं है, जितनी आत्म-युगलप्राप्ति में है उतनी वैयक्तिक आत्म-विस्तार करने में नहीं है। गुड मन की विविष्ट शक्ति है परिवर्तन और वह जितना ही अधिक उदात्तता और संयमन को अधिपत करता है उतना ही अधिक मन का यह (परिवर्तन का) नियम निरन्तर विस्तार, सुचार और अपनी प्राप्तिशक्ति की अधिक उत्तम व्यवस्था का रूप धारण करता जाता है और इस प्रकार अन्तर्गत तथा सुमनोहर पूर्णता से विस्तीर्णतर तथा चटिस्तर पूर्णता की ओर सतत प्रयास का रूप धारण करता जाता है।

आत्मा का विविष्ट नियम है स्वतन्त्रता पूर्णता और अपरिवर्तनशील अनन्तता। वह सदा और अपने अधिकार से ही उस अनन्तता को धारण किये हुए है जो कि मन का स्वयं है। इनमें से प्रत्येक रूप में प्रकृति व्यष्टिमय और समधिपत दोनों प्रकार से प्रिया करती है। समाधान मुख्य एक अकेले रूप में और सामूहिक जीवन-सत्ता में तुल्यवत्ता अपने अस्तित्व को प्रवर्धित करता है। व्यक्ति का समधि के साथ ठीक संबंध यह नहीं कि वह अपने साधियों का क्या रखे बिना महत्मावपूर्ण होकर, अपनी भौतिक और मानसिक उत्पत्ति का मा आध्यात्मिक भुक्ति का अनुसरण करे, न ही यह कि वह सब को बाहिर अपने समुचित विकास को देना दे या पंगु कर दे बल्कि यह कि वह अपनी सब सर्वोत्तम और पूर्णतम संभावनाओं को अपने में एकत्र करे और उन्हें विचार, कर्म तथा अन्य सभी साधनों से अपने चारों ओर रखे ताकि अनुस्यू-साधियों पर बरसाये जिससे कि संपूर्ण प्राप्ति अपने सर्वोत्कृष्ट व्यक्तियों की उपलब्धि के अधिक निकट पहुँच सके।

माध्यम में गत सहस्रों वर्षों तक आध्यात्मिक और नीतिक जीवन प्रयत्नकारी मन का बहिष्कार करके एक राह रहे है। आध्या-

जीवन और योग

त्मिकता ने सामान्य उन्नति के लिये उद्योग करना छोड़कर जडप्रकृति के साथ अपने लिये समझौता किया। उसने समाज से उन सबके लिये स्वतंत्र आध्यात्मिक उन्नति का अधिकार प्राप्त किया जो एक विभेदक प्रतीक, जैसे कि सन्यासी का वेष, धारण करते हो, इसी प्रकार, उस जीवन को मनुष्य का लक्ष्य करके माना जाना तथा जो लोग उसे व्यतीत करते हैं उन्हें परम सम्मान का पात्र समझा जाना, और स्वयं समाज को भी ऐसे धार्मिक साचे में ढाल देना कि उसके सर्वथा रीति-रिवाज रूप कार्य भी जीवन के आध्यात्मिक प्रतीकवाद और उसकी अतिम मजिल के यथाविधि स्मारण से सयुक्त हो,—यह सब कुछ उसने समाज से प्राप्त किया। दूसरी तरफ, समाज को जडता और गति-शून्य आत्म-संरक्षण का अधिकार दे दिया गया। इस रियायत ने समझौते की शर्तों का अधिकांश मूल्य समाप्त कर दिया। धार्मिक साचा स्थिर हो जाने के कारण, रूढ़िभूत स्मृतिचिह्न नित्याभ्यास की वस्तु बनने लगा और अपने जीते-जागते भाव को खोने लगा। साचे को बदलने के लिये नये संप्रदायो और धर्मों द्वारा किये गये सतत प्रयत्न केवल नये प्रकार के नित्याभ्यास या पुराने के किंचित् सुधार में ही पर्यवसित हुए, क्योंकि स्वतंत्र और क्रियाशील मन का रक्षाकारी तत्त्व बहिष्कृत कर दिया गया था। भौतिक जीवन अज्ञान के, प्रयोजनहीन तथा अन्तहीन द्वंद्व के हाथों में सौंपा हुआ एक बोझल तथा कष्टदायी जुआ बन गया जिसके नीचे से निकल भागना ही एकमात्र निस्तारा था।

भारतीय योग के संप्रदायो ने समझौते के लिये हाथ बढ़ाया। वैयक्तिक पूर्णता या मुक्ति को लक्ष्य, साधारण प्रवृत्तियों से किसी न किसी प्रकार की निवृत्ति को शर्त, तथा, जीवन के त्याग को चरम अवस्थानियत कर दिया गया। गुरु शिष्यों के छोटे से वर्ग को ही अपना ज्ञान प्रदान करता था। या अगर अधिक विस्तृत क्रिया के लिये यत्ने

किया जाता था तो भी व्यक्तिगत आत्मा का कूटकारा ही सम्भव रहता था। मतिधून्य समाज के साथ किये गये समझौते का बहुत हद तक, पालन किया जाता था।

संसार की तात्कालिक बर्बादी तथा की दृष्टि में रहते हुए, उस समझौते की उपयोगिता के नियम में किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। उसने भारतवर्ष में एक ऐसे समाज के निर्माण में सफलता प्राप्त की जिसने आध्यात्मिकता की सुरक्षा और पुनः में अपनी सहायता प्राप्त की। उसने भारतवर्ष को एक ऐसा सकल-वसन्त देश बना डाला जिस में सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श अपने चारों ओर की शक्तियों के चरे से अनभिभूत रहकर अपनी परम पवित्रता में अपने आपको इस प्रकार सुरक्षित रख सकता था जैसे कि एक दुर्ग में। परन्तु वह समझौता ही था पूर्ण विजय नहीं। भौतिक जीवन ने सभ्यता के लिये दिव्य आदेश को पना दिया आध्यात्मिक जीवन ने पार्श्वक्य द्वारा अपनी उन्नतता और पवित्रता सुरक्षित रखी किन्तु अपने पूर्ण सामर्थ्य तथा अपनी सांसारिक उपयोगिता की शक्ति से ही।

हमें एक बार फिर यह अनुमान करने की जरूरत है कि व्यक्ति अकेला अपने आप में ही नहीं बल्कि समूह में रहता है और यह कि वैयक्तिक पूर्णता तथा मुक्ति ही अवस्था में ईश्वर के सदेव्य का संपूर्ण अर्थ नहीं है। हमारी स्वतंत्रता के लिये प्रयोग में दूसरों की तथा मानव जाति की मुक्ति भी अन्तर्गत है। हमारी पूर्णता की पूरी उपयोगिता यह है कि हम दिव्य प्रतीक को अपने में मूर्तिमान् करने के बाद दूसरों में उसकी प्रतिकृति बनायें उसे बहुमुखित तथा अंत में सार्वभौम कर दें।

आत्मा विरहगत सत्ता का मुकुट है। अक्षप्रकृति उसका आधार है। मन दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। आत्मा वह तत्त्व है जो कितन है। मन और अक्षप्रकृति उसके क्रिया-व्यापार हैं। आत्मा वह तत्त्व है जो अव्यक्त है और जिसे व्यक्त करना है। मन और शरीर के साधन

जीवन और योग

हैं जिन द्वारा वह आत्मा आत्मप्रकाश करने का प्रयत्न करती है। आत्मा योग के ईश्वर की प्रतिमा है, मन और शरीर वे साधन हैं जो ईश्वर ने दृग्गोचर सत्ता में उस प्रतिमा की प्रतिकृति बनाने के लिये हमें प्रदान किये हैं। हमारी सारी प्रकृति निगूढ़ 'सत्य' का प्रगति-शील प्रकाशन करने, दिव्य प्रतिमा की अधिकाधिक सफल प्रतिकृति बनाने के लिये प्रयत्न रूप है।

परन्तु सहज विकास-प्रक्रिया में प्रकृति का समष्टि के लिये जो लक्ष्य है उसे ही योग व्यष्टि के लिये द्रुत परिवर्तन द्वारा साधित करता है। वह प्रकृति की सब शक्तियों को द्रुत करने द्वारा, उसकी सब क्षमताओं के उदात्तीकरण द्वारा क्रिया करता है। जहाँ प्रकृति आध्यात्मिक जीवन को कठिनाई के साथ विकसित करती है और उसे अपनी निम्न-तर उपलब्धियों के लिये प्रायः आध्यात्मिक जीवन से पीछे हटना पड़ता है, वहाँ उदात्तीकृत शक्ति, योग की एकाग्र पद्धति, सीधे ही लक्ष्यप्राप्ति कर सकती और उसके साथ मन की पूर्णता तथा, यदि प्रकृति चाहे तो, शरीर की पूर्णता को भी धारण कर सकती है। प्रकृति भगवान् को अपने ही प्रतीको में प्राप्त करना चाहती है—योग प्रकृति से परे प्रकृति के स्वामी की ओर, विश्व से परे परात्पर की ओर जाता है और, परात्पर प्रकाश और शक्ति को साथ लेकर, सर्वशक्तिमान् के आदेश को साथ लेकर, लौट सकता है।

परन्तु अतः में उन दोनों का लक्ष्य एक ही है। योग को मानवता में व्यापक बना देना, अवश्य ही, प्रकृति की अपने विलम्बो तथा आत्म-गोपनो पर अंतिम विजय होनी चाहिये।

पूर्व इसके कि योग की किंचित् भी सम्भवता सिद्ध हो सके व्यावहारिक दृष्टि से, तीन मानस प्रत्यय (conceptions) आवश्यक, हैं, मानो सचमुच ही, योग-प्रयत्न को अनुमति देने वाले तीन सहयोगी अवश्य होने चाहियें,—ईश्वर, प्रकृति और मानवीय आत्मा

अथवा अधिक अमर्त माया में कहें तो परात्पर, विष्णु तथा ब्रह्म। अगर ब्रह्म और प्रकृति को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो, ब्रह्म प्रकृति से बड़ा हो जाता है और उसकी विवर्धित शक्ति का अनुभवयोग मात्रा तक अतिव्यक्त करने में असमर्थ होता है। अतः किसी परात्पर शक्त की आवश्यकता अनुभव होती है जो प्रकृति से मुक्त तथा अधिक महान् हो जो हमपर तथा उसपर क्रिया करे, हमें ऊपर अपनी तरफ आकर्षित करे और व्यक्तिगत ऊर्ध्वगमन के लिये उस (प्रकृति) की अनुपति को कृपा द्वारा या शक्ति द्वारा उससे प्राप्त करे।

यही है वह सत्य जो ईश्वर, प्रभु, परम पुरुष या परम आत्मा संबंधी विचार को प्रत्येक योग-वर्धन के लिये आवश्यक बना देता है— उस परम पुरुष के विचार को जिसके निमित्त प्रयत्न को प्रेरित किया जाता है और जो आलोच्यक स्वयं तथा उपबन्धि-सामर्थ्य को प्रदान करता है। शक्तियोग द्वारा बार-बार बुद्धिस्थापित यह पुरक विचार भी समान रूप से सत्य है कि जैसे परात्पर ब्रह्म के लिये आवश्यक है उसी प्रकार एक वर्ष में ब्रह्म ही परात्पर के लिये आवश्यक है और परात्पर उसकी ओर में उसके पीछे चिरता है। जहाँ भक्त भक्त-बान् को जोखता तथा उसके लिये अत्यन्त स्तुति करता है वहाँ भक्त-बान् भी भक्त को जोखते तथा उसके लिये अत्यन्त वात्सल्य रखते हैं। ज्ञान का मनुष्य-जन्मी विज्ञान, ज्ञान का परम आलम्ब्य तथा ज्ञान की विश्वव्यापी शक्तियों का व्यक्ति द्वारा दिव्य उपयोग—इन तीनों के बिना किसी प्रकार का आत्मयोग संभव नहीं। मनुष्य-रूप प्रभु-प्रेमी प्रेम तथा ज्ञान का परम पात्र और आध्यात्मिक भावमय तथा तीव्रतम योग की विश्वव्यापी शक्तियों का व्यक्ति द्वारा दिव्य उपयोग—इन तीनों के बिना किसी प्रकार का शक्तियोग संभव नहीं। मनुष्य-रूप कर्ता परम संकल्प सब कर्मों व यशों का स्वामी शक्ति और क्रिया के विश्वव्यापी साधकों का व्यक्ति द्वारा दिव्य उपयोग—

जीवन और योग

इनके बिना किसी प्रकार का भी कर्मयोग सभव नहीं। वस्तुओं के सर्वोच्च सत्य के सबध में हमारा बौद्धिक विचार कितना ही अद्वैतवादी क्यों न हो पर, व्यवहार में हमें यह सर्वव्यापी त्रैत स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ता है।

क्योंकि, मानवीय तथा व्यष्टिगत चेतना का दिव्य चेतना के साथ सस्पर्श ही योग का वास्तविक मर्म है। जो अश विश्व-लीला के प्रसंग में पृथक् हो गया है उसका अपनी ही सत्य आत्मा, मूल सत्ता व विश्व-मयता के साथ मिलन— यह है योग का अर्थ। जिस जटिल और गहन-तथा व्यवस्थित चेतना को हम अपना व्यक्तित्व कहकर पुकारते हैं उसके किसी भी केन्द्रस्थान पर सस्पर्श हो सकता है। भौतिक केन्द्र में इसे शरीर द्वारा साधित कर सकते हैं, प्राणिक में उन प्राण-व्यापारों की क्रिया द्वारा जो हमारी म्नायवीय सत्ता की अवस्था तथा उसके अनुभवों को निर्धारित करते हैं, मनोमय भूमिका द्वारा भी इसे साधित कर सकते हैं—या तो भावमय हृदय, सक्रिय इच्छाशक्ति वा बोध-ग्राही मन के आश्रय से, अथवा अधिक विस्तृत रूप में, मानसिक चेतना का उसकी सभी क्रियाशीलताओं में सामान्य रूपांतर हो जाने से। उसी प्रकार मनोवर्ती केन्द्रीय अह का परिवर्तन हो जाने से, विश्वमय या परात्पर सत्य तथा आनन्द के प्रति साक्षात् जागरण हो जाने के द्वारा भी इस सस्पर्श को तुल्य रूप में साधित किया जा सकता है। और हम सस्पर्श का जो केन्द्रस्थान चुनेंगे उसके अनुसार ही होगी वह योगरीति जिसका हम अभ्यास करेंगे।

क्योंकि, यदि हम भारतवर्ष में अब तक प्रचलित मुख्य योग-संप्रदायों की विशेष प्रक्रियाओं की जटिलताओं को एक तरफ रखकर उनके केन्द्रीय सिद्धांत पर ध्यान दें तो, हमें पता लगता है कि वे अपने आपको एक चढ़ती क्रमशृंखला में व्यवस्थित करते हैं जो शृंखला सीढ़ी के सबसे निचले सोपान, शरीर, में प्रारंभ होती है और, ऊपर,

व्यक्तिगत आत्मा के तथा परात्पर व विस्वमय आत्मा के बीच साक्षात् संबंध तक पहुंचनी है। हठयोग शरीर तथा प्राथमिक क्रिया-व्यापारों को अपनी पूर्णता व सिद्धि के कारणों के रूप में चुनता है। उस का संबंध सूक्ष्म शरीर से है। राजयोग मानसिक सत्ता को उसके मिस्र मिस्र भावों में अपनी बृहत् कार्यसाधक शक्ति के रूप में चरन करता है। वह अपनी सारी शक्ति सूक्ष्म शरीर पर लगाता है। कर्म का प्रेम का तथा ज्ञान का निविष्ट मार्ग मानसिक सत्ता इच्छा शक्ति हृदय या बुद्धि के किसी भाग को आरंभकेन्द्र के रूप में प्रयुक्त करता है और उसके परिवर्तन द्वारा उन मोक्षजनक सत्य ज्ञान व और ज्ञानमय पर पहुंचने का यत्न करता है जो सत्य आदि कि आध्यात्मिक जीवन का स्वस्व है।

मूल्य योगसंम्प्रदायों का स्वरूप ही ऐसा है कि उनमें से प्रत्येक अपनी क्रियाओं में जटिल मानव-रूप अनेक प्राणी के किसी एक भाग का ही परिग्रहण करता है और उसकी सर्वोच्च संभाव्यताओं को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है—इनके इस स्वस्व से ही ऐसा प्रतीत होता कि उन सबका विद्यालयता परिकल्पित तथा व्यवहृत समन्वय बहुत संभवतः 'सर्वसिपूर्ण योग' के रूप में फलित हो सकता है। परंतु वे अपनी प्रवृत्तियों में इतने मिश्रित हैं, अपने रूपों में इतने अधिक विशेषतायुक्त तथा विस्तारसहित परिनिष्पन्न हैं, अपने विचारों तथा अपनी विधियों के परस्पर-विरोध में इतने चिरकाक से बुद्धयतिष्ठित हैं कि हमें सुवमत्तया पता नहीं चलता कि हम उनकी अपार्थक्यता पर कैसे पहुंच सकते हैं।

उन सबका एक समुच्चय के रूप में विवेकसहित संयोजन कर देना संभव नहीं बल्कि अस्तव्यस्तता होगी। न ही उनमेंसे प्रत्येकका सारी सारी से अधिक अभ्यास करना हमारे मानव-जीवन की अल्प अवधि में तथा हमारे परिमित सामर्थ्यों के साथ सहज होगा और फिर

इतनी भारभूत प्रक्रिया में समाविष्ट शक्तिक्रय का तो कहना ही क्या । इस में सदेह नहीं कि कभी कभी हठयोग और राजयोग का इस प्रकार वारी वारी से अनुष्ठान किया जाता है । और एक ताजे अनुपम उदाहरण में, रामकृष्ण परमहंस के जीवन में, हमें अति बृहत् आध्यात्मिक सामर्थ्य देखने को मिलता है जो सामर्थ्य पहले तो सीधे ही दिव्य साक्षात्कार तक द्रुत गति से ले जाता है, मानो कि सचमुच जोर-जबर्दस्ती से द्युलोक का राज्य ले लेता है, और फिर एक के बाद एक योगपद्धति को दृढता से अपनाता तथा विश्वास-अयोग्य शीघ्रता के साथ उसमेंसे सारतत्त्व को निकाल लेता है,—ऐसा वह सदा ही संपूर्ण विषय के मर्म पर नये सिरे से पहुँचने के लिये करता है, और वह मर्म है—प्रेम की शक्ति द्वारा, नैसर्गिक आध्यात्मिकता का नानाविध अनुभवों के रूप में विस्तार हो जाने के द्वारा तथा अतः स्फुरणात्मक ज्ञान की स्वतः स्फूर्त क्रीडा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार व प्राप्ति । पर ऐसे दृष्टांत को आम नहीं बनाया जा सकता । उसका उद्देश्य भी विशेष तथ्या ऐहलौकिक था,—उद्देश्य था 'गुरु'-आत्मा के महान् तथा निर्णायक अनुभव के रूप में एक विशेष सत्य को दृष्टांत द्वारा उपस्थित करना, जो सत्य कि आज मानवता के लिये अत्यन्त आवश्यक है, जिसकी तरफ कि कलहायमान मतों और संप्रदायों में चिरविभक्त जगत् बड़ी कठिनाई से बढ़ रहा है,—वह सत्य यह है कि सभी संप्रदाय एक ही अखंड सत्य के रूप और खंड हैं और सभी अभ्यासनियम एक ही परम अनुभूति की ओर अपने विभिन्न मार्गों से पहुँचने का प्रयत्न करते हैं । भगवान् को जानना, भगवान् हो जाना तथा उन्हें अधिगत कर लेना—यही एकमात्र आवश्यक वस्तु है और यह शेष सभी वस्तुओं को अपने अंतर्गत रखती है या उनकी तरफ हमें ले जाती है, इस एकमात्र 'भद्र' की ओर हमें जाना है और इसके प्राप्त हो जाने पर, शेष सब कुछ जिसे कि दिव्य सकल्प हमारे लिये वरण करता है, सब आवश्यक रूप और अभिव्यक्ति, हमें अनायास प्राप्त हो जायगी ।

ता जो समन्वय हमारे सामने मध्य के रूप में उपस्थित है उस पर न तो हम सभी योगप्रणालियों का एक संघात में समावेश कर देने से पहुंच सकता है और न ही बसता अभ्यास द्वारा। अतएव योग की अभ्यासप्रणालियों के रूपों तथा बहिरंगों की पराह न कर बरंच उन सब प्रणालियों में समान रूप से विद्यमान किसी एक केंद्रीय तत्त्व को दृढ़तापूर्वक अपनाकर उनके समन्वय को अभ्यस्यमेव साधित किया जा सकता है जो तत्त्व कि उनके विशेष सिद्धांतों का मुक्त स्वान और अनुपात में समावेश तथा उपयोग करेगा इसी प्रकार, निश्चय ही किसी ऐसी केंद्रीय अभ्यासात्मक शक्ति को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने द्वारा वह समन्वय संसाधित किया जा सकता है जो शक्ति कि उनकी विपरीतविद्यात्मक शक्तियों का सर्वनिष्ठ रहस्य है और अतः उनकी विविध साधना शक्तियों तथा भिन्न भिन्न उपयोगिताओं के स्वाभाविक संग्रह व संयोजन को मुख्यवस्तिमान करने में समर्थ है। यही कथ्य है जिसे हमने प्रारंभ में ही अपने सामने रखा था जब कि हमने प्रवृत्ति की विधियों तथा योग की विधियों के तुलनात्मक विश्लेषण के विषय में प्रवेश ही किया था और अब हम फिर उसीपर इस समाधान के साथ वापिस लौटते हैं कि वह एक निश्चित समाधान का सुयोग प्रदान कर सकता है।

तो अब हम यह देखने हैं कि मनोबैज्ञानिक दृष्टिकोण से—और योग अभ्यासमक मनोविज्ञान के सिद्धा और क्या है?—प्रकृतिविषयक वह विचार कौन-सा है जिससे कि हमें प्रारंभ करना है। वह है पुरुष की अपनी शक्ति द्वारा आत्मकृतार्थता। पण्डु प्रकृति की पति को प्रकार की है, उच्चतर तथा निम्नतर, या हम इसे जो नाम देना उपयुक्त समझते हैं उसके अनुसार कह सकते हैं कि दिव्य तथा अदिव्य। यह मेव तो वास्तव में व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये ही है। चूंकि ऐसी तो कोई चीज है ही नहीं जो दिव्य न हो और, अधिक विस्तृत दृष्टि से देखें तो यह मेव धार्मिक रूप में जगता ही निरर्थक है जिसका

कि प्राकृतिक और अति-प्राकृतिक के बीच किया जाने वाला भेद, चूँकि जो भी चीज़ें सत् हैं वे सभी प्राकृतिक हैं। सभी वस्तुएँ प्रकृति में हैं और सभी वस्तुएँ ईश्वर में हैं। परन्तु, व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये इनमें वास्तविक विभेद है। निम्नतर प्रकृति, वह प्रकृति जिसे हम जानते हैं और जो कि हम हैं और तबतक अवश्य ही रहेंगे जबतक कि हमारे अदर की श्रद्धा परिवर्तित नहीं हो जाती, सीमा-निर्धारण और विभाजन द्वारा क्रिया करती है, अज्ञानमय स्वभाव वाली है और अह के जीवन में पर्यवसित होती है, परन्तु उच्चतर प्रकृति, वह प्रकृति जिसके प्रति हम अभीप्सा करते हैं, एकीकरण और सीमा के अतिक्रमण द्वारा क्रिया करती है, ज्ञानमय स्वभाव वाली है और दिव्य जीवन में पर्यवसित होती है। निम्नतर में उच्चतर की ओर प्रयाण योग का लक्ष्य है, और यह प्रयाण निम्नतर को त्याग देने तथा उच्चतर में भाग जाने द्वारा,—जो कि साधारण दृष्टिकोण है,—या निम्नतर का रूपांतर करने तथा उसे उच्चतर प्रकृति तक ऊँचा उठा ले जाने द्वारा साधित किया जा सकता है। अवश्य ही यह दूसरा ही है जो कि, अपेक्षाकृत कहीं अधिक, पूर्णयोग का लक्ष्य होना चाहिये।

तो, जिस पद्धति का हमें अनुसरण करना है वह है अपनी सपूर्ण चेतना सत्ता को भगवान् के साथ सवध और सम्पर्क में स्थापित करना और अपनी समग्र सत्ता को उसकी सत्ता में रूपांतरित करने के लिये उसका आवाहन करना, जिससे कि एक अर्थ में स्वयं ईश्वर ही, हमारे अदर का वास्तविक पुरुष ही, साधना का साधक और योग का महेश्वर बन जाता है जो महेश्वर कि निम्नतर व्यक्तित्व को दिव्य रूपांतर के केंद्र तथा उम (व्यक्तित्व) की अपनी ही पूर्णता के करण के तौर पर प्रयुक्त करता है। कार्य रूप में, तप—हमारे अदर विद्यमान चेतना-की-शक्ति जो दिव्य प्रकृति के विचार में निहित है—का दबाव हमारी सारी की सारी सत्ता पर क्रिया करता हुआ अपने आप-

जीवन और योग

मार्ग, जहा इतना अधिक कठिन है कि इससे अधिक कठिन की कल्पना ही नहीं हो सकती वहा यह, अपने प्रयास और व्यय की वृहत्ता की तुलना मे, सभी मार्गों से अधिक सुगम और सुनिश्चित भी है ।

योग का उद्देश्य

मनुष्य के अंदर जब भगवान् का स्पर्श होता है तब उस ही मोक्ष का लक्ष्य है। यही हम 'भगवान्' शब्द का चाहे कोई भी अर्थ क्यों न ग्रहण करें उससे विशेष कुछ जाना-जाना नहीं। केवल इतना ही स्वीकार करना पर्याप्त है कि मनुष्य से उत्पन्न, कुहत्तर विषयमयक अथवा दुर्दीय कार्य एक जामून मत्ता है। इस तरह भक्त के साथ भगवान् के महा के साथ ईश्वर के जीव के साथ शिव के आत्मा के साथ परमात्मा के—यहां तक कि बौद्ध मन का अनुसरण कर संसार के साथ मुक्त के—यह मर्त्य को हम योग कह सकते हैं। इसमें मूल बात यह संयोग यह संयोजन-स्थापन ही है। इसीसे योगसाधना का आरंभ होता है। परन्तु हम साधना की प्रकाशी वृत्ति परिचयिता इत्यादि सब कुछ हम जान पर निर्भर करता है कि मनुष्य अपने किस भाव में किस रूप में भगवान् के साथ युक्त हुआ है या होना चाहता है, उसके किस जग में भगवान् का स्पर्श हुआ है।

शरीर मनुष्य कोई विशुद्ध अभिन्न अकारण एक वस्तु नहीं है। वह अनेक विभिन्न जीव विपरीत गुणों की सम्पत्ति है। प्रकृति के सभी स्तर उसमें अनेक गुणों का है। सृष्टि की सभी कारण उसके अंदर प्रकाशित हो रही हैं। हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि प्रकृतिक तीन स्तर तब के अंतर एक-दूसरे अलग-अलग विद्यमान है। पहला स्तर है दृढ़ और वह का गजीविन स्तर का जीवजीविका या प्राणशक्ति।

दूसरा स्तर है मन, इसी ऊर्ध्वतर क्षेत्र में बुद्धि, विचार, चिंतन, भावुकता इत्यादि के खेल होते हैं। तीसरा और ऊर्ध्वतम क्षेत्र है अध्यात्मबोध, जिसका स्वरूप है विज्ञानमय, आनन्दमय—जो अमृतत्व का अधिष्ठान है। वर्तमान समय में मानव-प्रकृति अभी तक इस आत्मा को ज्ञानपूर्वक नहीं पहचान सकी है, उसे अपने मन के खेल के भीतर ही आभास या सकेत के द्वारा इस आत्मा का बोध होता है। परंतु वही सृष्टि का चरम लक्ष्य है। देह और प्राण को लिये हुए जो भाव है वह मनुष्य का पशुभाव है, मन-बुद्धि को लिये हुए जो भाव है वह मनुष्य का मनुष्यभाव है और तुरीय ज्ञान तथा आनंद को लिये हुए जो भाव है वह मनुष्य का देवभाव है, सिद्धभाव या भागवत भाव है। विवर्तन की गति पशुभाव से मनुष्यभाव में, और मनुष्यभाव से देवभाव में क्रमशः आरोहण करने के लिये आरम्भ हुई है। मनुष्य के अंदर जो शक्ति मनुष्य को पशुभाव और मनुष्यभाव से ऊपर उठाकर देवभाव में स्थापित करना चाहती है उसीका नाम योगशक्ति है और इस उद्देश्य-सिद्धि के लिये जिस मार्ग पर चलना होता है, जिस प्रकार में जीवन को गढ़ना और चलाना होता है उसीका नाम योगसाधना है।

भारतवर्ष में जो भिन्न-भिन्न साधन-मार्ग प्रचलित हैं, वे भी मनुष्य की इस त्रिधा भिन्न प्रकृति के अनुसार विभिन्न स्तरों में व्यवस्थित हैं। पहला है हठयोग। हठयोग का क्षेत्र मनुष्य का सबसे नीचे का स्तर—उसका स्थूल शरीर है। शरीर और प्राणशक्ति को केन्द्र बनाकर उसके अंदर ही भगवान् के स्पर्श का अनुभव करना हठयोग का उद्देश्य है। इसके बाद राजयोग मनुष्य के दूसरे स्तर के ऊपर स्थापित है। समस्त मन के द्वारा, मन की किसी विशेष वृत्ति या खेल द्वारा नहीं, बल्कि मन की जो मूल प्रकृति है उसी मानस सत्ता अथवा चित्त के द्वारा राजयोग मनुष्य को साधनमार्ग में नियंत्रित और परिचालित करता है। राजयोग मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में केन्द्रीभूत हुआ है। फिर

मनो बंध में मनुष्य की आध्यात्मिक कृति के ऊपर प्रतिष्ठित है मार्ग त्रय—(१) ज्ञानयोग (२) भक्तियोग और (३) कर्मयोग। ज्ञान प्रेम और कर्मप्रेमा (इन्द्रागनि-म॥) ये तीन मन की प्रक्रियाएँ हैं। एही तीनोंमेंसे कर्मका एक-एकके ऊपर निर्भर करके ज्ञानबोध भक्तिबोध और कर्मयोग उनही सहायता से मनुष्य को प्राणवत् सत्ता में परिणत करना चाहते हैं। मार्गत्रयी का नेत्र न तो मनुष्य का स्वरूप दर्शाता है न मूलम दर्शाता, उनका नेत्र है आत्मा जीव या पुरुष। ज्ञान प्रेम अथवा मक्ति के द्वारा आत्मा के साथ परमात्मा का जीव के साथ भक्तान् का पुरुष के साथ बुद्धोत्तम का सात्त्वान् संबंध स्थापित करना ही विचार का अध्यात्म-योग है।

इन विभिन्न-भिन्न मायनमात्रों की स्मरणना क्या है इनमें कमी क्या है, इनका दुष्प्रभाव क्या है या बोध क्या है, इनका विचार करने के पूर्व सबसे पहले हम ज्ञान का स्पष्ट निर्देश करने की आवश्यकता है कि साधना का उद्देश्य क्या है, मार्ग का मध्य क्या है। अतएव एकमात्र उद्देश्य के द्वारा ही ज्ञान की लक्ष्यता या निष्कर्षता का विचार करना संभव है। किंतु साधनमार्ग की क्या उपयोगिता और क्या अनुपयोगिता है, इसका निर्णय तो इसी ज्ञान से करना चाहिये कि किन्तु मनुष्य को सामने रखकर हमने साधना आरंभ की है। बोधसाधना के दो मध्य हमारे सामने हैं—ईशान्यमुक्ति और जीवन्मुक्ति। साधनाविधि की तरह यदि हम ज्ञान को केवल भौतिकता पुरुषत्व मात्र मानें औरों की तरह यदि मनुष्य को सृष्टि को 'अधिक वेदनाओं की समष्टि' के रूप में स्वीकार करें तो फिर हम ज्ञान में रहने की इच्छा ही क्यों करेंगे?—किन्ती प्रकार इस पुरुषत्व को नष्ट कर सकने में ही हमारा निश्चेत है। बोधविचार की भाँति किन्ती प्रकार बुद्धि जाने में ही परम पुण्यार्थ है। जीवन को मिटाकर, ज्ञान से सर्वथा संतर्कित होकर, सबसे परे, 'किन्ती कुछ' अथवा 'कुछ नहीं' के अंदर

योग का उद्देश्य

जाकर घुलमिल जाना ही कैवल्यमुक्ति है। यही यदि हमारी साधना का लक्ष्य हो तो फिर इन सब भिन्न-भिन्न साधनमार्गों की परस्पर तुलना करने या इनके गुण-दोषों का विचार करने, इनका समन्वय करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में चाहे किसी भी मार्ग को क्यों न पसन्द करे, वस एक बार पसन्द करके फिर सीधे उसी मार्ग पर बराबर चलते रहने से ही अभीष्ट-सिद्धि हो जायगी। ऊपर उठ जाना ही जब एकमात्र लक्ष्य है तब उपाय चाहे रस्सी हो, बास की सीढ़ी हो या पत्थर की सीढ़ी हो, उससे क्या आता-जाता है ?— किसी प्रकार पार होने से मतलब। हा, यह बात ठीक है कि भिन्न-भिन्न स्वभाव, भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार कोई मार्ग किसीकेलिये सुगम और किसीकेलिये दुर्गम होता है। परन्तु इतना विचार कर लेना तो किसी भी साधक के लिये बहुत कठिन नहीं है।

परन्तु जगत् का अर्थ यदि हमारे लिये कुछ और हो, जगत् मोह या दुःस्वप्न नहीं, बल्कि आनन्दमय हो, जगत् को ही यदि हम नि-श्रेयस का आधार मानते हो, जीवन को अस्वीकार करके नहीं वरन् इसका आलिंगन करके ही यदि हम मुक्त, सिद्ध होना चाहते हो तो फिर योगसाधना की एक पूर्ण रूप से नवीन मूर्ति हमारे नेत्रों के सामने प्रस्फुटित हो उठेगी। मनुष्यरूप मंदिर के देवता केवल मंदिर के शिखर पर ही अधिष्ठित हो, ऐसी बात नहीं है और न यही है कि यह मंदिर उस शिखर पर चढ़ने के लिये केवल एक सीढ़ी मात्र हो। इस मंदिर में जितनी कोठरियाँ हैं, सभी देवता के प्रतिष्ठान हैं, सभी देवता के निवासघाम हैं—सबको एक साथ परिष्कृत, परिमार्जित रखना होगा, सबके अंदर एक साथ यज्ञकुंड प्रज्वलित रखना होगा। शरीर केवल शरीर के परे जाने के लिये ही नहीं है, मन केवल मन के परे जाने के लिये नहीं है, ज्ञान, प्रेम और कर्म केवल ज्ञान, प्रेम और कर्म के परे जाने के लिये ही नहीं हैं, व्यक्तित्व केवल व्यक्तित्व को विनष्ट करने

के लिये ही नहीं है। वेह, मन और अध्यात्मवृत्ति भगवान् को पाने का केवल मार्ग या उपाय मात्र ही नहीं हैं। जब हम यह समझ सकेंगे कि केवल शरीर के पीछे ही भगवान् नहीं है शरीर भी भगवान् है केवल मन के परे ही भगवान् नहीं है मन भी भगवान् है केवल अध्यात्म-सत्ता के परे ही भगवान् नहीं है, अध्यात्म-सत्ता भी भगवान् है, तब एक साथ सब प्रकार के साधनमार्गों की आवश्यकता को हम हृदयमग्न कर सकेंगे। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों ही स्तरों में हम प्रविष्ट रहेंगे मनुष्य की समस्त सत्ता के अंदर हम भगवान् को जमावेंगे अपने किसी एक अंग मात्र से ही नहीं बल्कि हमारे अस्तित्व में हैं उन सबके द्वारा हम भगवान् को आत्मियन करेंगे—यही यदि हमारे जीवन का लक्ष्य हो तो केवल कोई एक विशिष्ट मार्ग ही हमारे लिये पर्याप्त न होगा। तब हम चाहेंगे अर्थात् पूर्णयोग जिसके द्वारा हमारी सभी जीवनकारणों में भगवान् अवाक्य कर देंगे हमारे अंतर्मुख को धर्म-धर्मों और वेद-वीरों से समृद्ध कर दें। इतना ही नहीं हम केवल व्यक्तिगत सिद्धि नहीं चाहते हम चाहते हैं विश्वमानव की सिद्धि। विश्वमानव जिससे सब मुक्त पूर्ण हो सके उसीमें प्रतिकृति हमारी व्यक्तिगत साधना होगी। हम मानवसब का निर्माण नहीं चाहते हम सब जीव चाहते हैं जिससे मानव-समाज अपने अस्वस्थ वैचित्र्य के साथ कहलहा रहे। उसकी वर्तमान सारी प्रेरणाएँ सारे प्रवास सारे कर्म रहेंगे केवल वे प्रविष्ट रहेंगे कश्चित् महान् में—भीभगवान् में। वह जब हमारा सहोदर है तब हम केवल किसी एक विशेष साधनमार्ग को ही समस्त मनुष्यजाति की विभिन्नमुसी बेष्टा के ऊपर नहीं ला सकते। इसी कारण हमें सब साधन-मार्गों का समन्वय करना होगा ऐसा समन्वय कि वह केवल हमारी अपनी साधना के लिये ही नहीं प्रस्तुत व्यक्तिगत जीवन की समस्त मानवजाति की समष्टिगत साधना में काम जा सके।

योग का अधिकार और दीक्षा

योगसाधना में “अधिकार” शब्द बहुधा प्रयोग में आता है। अधिकार का अर्थ है सामर्थ्य, योग्यता। यह कहा जाता है कि सामर्थ्य या योग्यता सभी मनुष्यों में नहीं होती, हरेक मनुष्य केवल इच्छा करने ही से योग-जीवन ग्रहण नहीं कर सकता, कई एक गुण-कर्म आवश्यक हैं, कुछ विधिव्यवस्था या शक्तों का पालन करना जरूरी है, एक विशेष अवस्था में पहुँचने या भूमिका पर खड़े होने की आवश्यकता है, उसके बाद ही अध्यात्म-समस्या के सम्मुख आना संभव है।

उपनिषद् ने इसीलिये जलदगभीर स्वर में घोषणा की है कि दुर्बल की अध्यात्मसाधना विडम्बना मात्र है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्य (मुण्डक ३-२-४) ।

अथवा, अव्यवस्थित चित्त वाले को ज्ञान देना उचित नहीं है—

नाप्रशाताय दातव्यम् (श्वेताश्वतर ६-२२) ।

यहाँ तक कि पंडित, विद्वान्, शास्त्रपारदर्शी या मेधावी होने ही से अध्यात्म-ज्ञान की योग्यता प्राप्त होती हो, ऐसी बात नहीं है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य, न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

इसीलिये तो ब्रह्मजिज्ञासा के प्रारंभ में जो ‘अथात’—अब इसके बाद—है उसकी बहुल और विपुल व्याख्या भाष्यकारों तथा टीकाकारों ने देने का प्रयत्न किया है। आचार्य शंकर ने अधिकार-अर्जन के लिये साधन-चतुष्टय की आवश्यकता बतलायी है। अतएव पहले योग्यता

प्राप्त करनी होती है अधिकारी बनना पड़ता है—उसके बाद अध्यात्म बीजा होती है।

यह प्रश्न संभव्य स्रष्टाया जा सकता है—आधुनिक लोग इस प्रश्न को उठाते रहते हैं—सार्वभौम शाखा-बीजा के वर्तमान रूप में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अध्यात्म-शाखा में सभी मनुष्यों का अधिकार क्यों नहीं हो सकता है? अध्यात्म-शाखा यदि मनुष्य के लिये परम सत्य है, वेष्टनम कल्याणतम आदर्श है, तो किसीको भी इससे वंचित करना—अल्पज या पारंगी होने के कारण धूर्त या गारी होने के कारण किसीको इससे दूर ठेक देना—असंगत अस्वाभ्य और निरनीय है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। किसी चीज के ऊपर हावा करने ही से या कानूनी हक होने ही से उसके योग्यता की योग्यता भी प्राप्त हो जाती हो ऐसी बात नहीं है—यदि ऐसा होता तो अजीर्णरोग नामक कोई चीज ही नहीं होती। अध्यात्म-शाखा के क्षेत्र में अजीर्णरोग के बहुतरे उदाहरण मिलते हैं—पतिग भ्रष्ट और विद्वत् लोगों की पूर्वजवा हताहतों की संख्या कम नहीं है और अधिकांश में यह जन विकार बर्षा का फल है, अस्मिक को रस-मिथेवन का फल है।

साधारण रूप से मनुष्यमात्र को ही कवि या वैज्ञानिक बनने का संभवत अधिकार है। किन्तु यदि कोई विशेष व्यक्ति कवि या वैज्ञानिक बनना चाहता है तो देखना होगा कि इस उद्देश्य के लिये जिन विशेष शिक्षा-बीजा की आवश्यक है उस ओर इस मनुष्य की स्वाभाविक समता या उन्मुखता है या नहीं। कवि बनने की इच्छा होने ही से केवल प्रकृत या अनुशीलन के पत्रस्वरूप कोई कवि नहीं बन सकता—कवि होकर जिनने जग्न किया है वही कवि बन सकता है। अध्यात्म-पीजन के बारे में भी यही बात लागू होती है। केवल इनका ही नहीं इनके अलावा भी एक बात है। अध्यात्म-शाखा मनुष्य को इन प्रकार की कुछ गलतियों और अमानवी चेतना के साथ संयुक्त कर

योग का अधिकार और दीक्षा

देती है, उनको जागृत और सचल कर देती है जिनको धारण करना या व्यवहार करना साधारण मनुष्य के लिये दुःसाध्य ही नहीं, बल्कि असाध्य हो जाता है यदि आधार पहले से तैयार और उपयुक्त नहीं हुआ रहता। साधना के साथ भूत-प्रेत, दैत्य-दानव, देव-देवी क्री बात उठा करती है—ये ही हैं वे सब शक्तिवाहिनी जिनको मनुष्य अपेक्षाकृत आसानी से बुला तो सकता है, किंतु उतनी आसानी से वश में रख नहीं सकता। कवि बनने की कोशिश में यदि सफलता नहीं हुई तो उससे बहुत ज्यादा नुकसान नहीं होता—किंतु अगर अध्यात्म-साधना में नाकामयाबी हुई तो दीन-दुनिया दोनों ही नष्ट हो जायेंगे, इसके अलावा 'महती विनष्टि' की भी संभावना है। इसीलिये वैदिक ऋषियो ने कहा है कि अच्छी तरह पकाये हुए घड़े की जरूरत है, कच्चे घड़े में सोमरस नहीं ठहर सकता।

प्राचीन काल में इसीलिये अधिकारी-निर्वाचन और अधिकारी-परीक्षा की विशेष विधिव्यवस्था थी प्रत्येक देश और प्रत्येक साधन-पथ में। देश और पथ के अनुसार यह परीक्षा विभिन्न ढंग और स्तर की होती थी—स्थूल काय-क्लेश से लेकर सूक्ष्म अनुभव की योग्यता तक। हम एक सहज (अपेक्षाकृत सहज सरल) परीक्षा की मिसाल उस ऋषि की कहानी में पाते हैं जिन्होंने कई बार एक वर्ष के बाद दूसरे वर्ष गायें चराने की आज्ञा दी थी। यहाँ प्रश्न अवश्य ही उठेगा कि अध्यात्म-साधन के साथ गो-चारण का क्या संबंध? कोई गूढ़ रहस्य निकालने की कोशिश न करके हम लोग यह कह सकते हैं कि यह आज्ञापालन और धैर्य की परीक्षा है। साधना में इन दो चीजों की सर्वप्रथम और अपरिहार्य जरूरत है—इन दो के बिना साधना ग्रहण नहीं की जा सकती, एक भी कदम आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इस बात की बड़ी जरूरत है कि गुरुवाक्य को निर्विकल्प रूप से प्रसन्नतापूर्वक पालन किया जाय और कुछ फल न मिलने पर भी अधीर और अवसन्न

न होकर समानभाव से हमेशा वृत्तवित्त रहा जाय। प्राचीन मिय देश में किसी किसी साधन-संप्रदाय में एक दूसरे प्रकार की परीक्षा थी। साधनार्थी को एकांत कोठरी में बन्द कर दिया जाता—उसके सामने बीजाल पर एक टेढ़ा-मेढ़ा रेखाचित्र अंकित रहता एकाग्र होकर उस रेखाचित्र पर उसको ध्यान करना होता जब तक और जितने दिन तक वह उसका कार्य आचिन्कार न कर केता—यदि नहीं कर सकता तो वह अनधिकारी करार दिया जाता।

अकिन्तु यह कहने की जरूरत नहीं कि ये परीक्षाएँ और व्यक्तस्वार्थ केवल बहिरंग हैं। कम से कम इन लोगों की धीमरबिन्द की साधना में इनका स्वान नहीं है। इस प्रकार के या अन्य प्रकार के अनेक सद् बुद्ध अनेक व्यक्तियों में है और हो सकते हैं, किन्तु इनके होने से अध्यात्म जीवन का—आनन्द जीवन का—विकास होवे ऐसी कोई बात नहीं है। जिस प्रकार मानसिक क्षेत्र में बुद्धि की प्रसरता और विरुद्धा किसीको अध्यात्म का अधिकारी नहीं बनाती वही प्रकार प्राय के क्षेत्र में भी केवल संयम विविक्षा और अध्यवसाय के बोर से अध्यात्म-ज्ञान की अधिकार पैदा नहीं होता—शारीरिक तपस्वर्षा की तो कोई बात ही नहीं है। उपनिषद् के निर्देश के अनुसार अ-भूष न होना संभव है, अ-क्षिप्य न होना संभव है यहाँ तक कि सबल साहसी और स्थिर चात बात पर्यंत होना संभव है, तथापि इसका भिरव्य नहीं दिखाया जा सकता कि अध्यात्म-साधना में सिद्धि प्राप्त होती ही। यहाँ तक कि आचार्य शंकर के कथनानुसार तो गुमुक्षु होने पर भी अर्वात् मोक्ष की इच्छा और उसका वाग्रह रहने पर भी दिव्य मोक्ष प्राप्त होता यह सिद्धि का विषय है।

तब अध्यात्म-साधना के किये भाग्यवत जीवन की प्राप्ति के किये कौन सी चीज आवश्यक है, अपरिहार्य है? कौन सी वस्तु अन्वर्ष रूप से इस मूर्ख अधिकार की का सकती है?

योग का अधिकार और दीक्षा

केवल एक चीज ही यह कार्य कर सकती है जिसे घरेलू भाषा में "पुकार" कहते हैं (जिसका अंगरेजी प्रतिशब्द 'Call' है)। अन्य अध्यात्म-साधनपथ के सबध में चाहे जो हो, किंतु श्रीअरविन्द-साधना की मर्मवाणी यही "पुकार" है। भागवत जीवन के लिये तुम्हारे अदर पुकार उठी है या नहीं? श्रीअरविन्द-साधनापथ पर तुम अत तक चल सकोगे या नहीं, इसका प्रमाण और चिह्न इसी पुकार का होना या न होना है। अगर यह वस्तु तुम्हारे पास है तो सब कुछ है, अगर यह नहीं है तो तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। तुम हजार जानी होओ, हजार तुम्हारा पुण्य और तपस्या हो, किंतु यदि यह चीज नहीं है, तो श्रीअरविन्द की साधना में तुम्हारा अधिकार नहीं है। और यदि तुम्हारे अदर कोई भी गुण न हो, तुम यदि मूर्ख हो, दुर्बल हो, सब प्रकार की ऋटि और बुराई से तुम्हारी प्रकृति भरी हुई हो, किंतु यह एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु यदि तुम्हारे अदर हो, तो सब गुण तुम्हारे अदर आ जायेंगे, तुम्हारे लिये सब कुछ हो जायगा, तुम्हारी सब बाधा-विपत्ति हट जायगी, तुम्हारी सब कमी पूरी हो जायगी, सब छिद्र भर जायेंगे। उपनिषद् की भाषा में —पाप तुमको नहीं पार कर सकेगा, तुम्ही सब पापों को पार कर डालोगे, पाप तुमको नहीं जलावेगा, तुम्ही सब पापों को जला डालोगे।*

किंतु यह अद्भुत वस्तु है क्या? अघटनघटनापटीयसी यह कौनसी शक्ति है? किसकी पुकार, कहा से आती है यह पुकार? और कुछ भी नहीं, यह है तुम्हारी अन्तरात्मा की पुकार, तुम्हारे अन्त पुरुष की पुकार और उसका प्रयोजन और दावा। साराश, सच्चे आध्यात्मिक जीवन के सूत्रपात का अर्थ है अन्त पुरुष के आविर्भाव की सूचना।

* नैन पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मान तरति। नैन पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मान तपति॥
(बृहदारण्यक ४-४-२३)

दिन वह परिव्रज्या ले ले अर्थात् सन्यासी बन जाय—यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।

अन्तरात्मा—जिसका एक दूसरा नाम “चैत्य पुरुष” है—बहुधा अदर ही अदर तैयार हो जाती है, नेपथ्य में देह, प्राण, मन के पर्दे से सटकर वह मौजूद रहती है, यद्यपि बाहर से किसी विशेष परिवर्तन का कोई चिह्न नहीं देख पड़ता, कोई योग्यता या अधिकार नहीं मालूम पड़ता । इस सबध में हम लोग महेश्वर की बाह्यमूर्ति की याद कर सकते हैं—निंदको को, अन्धो को आखें कहा हैं कि आंतर रूप को देख सके ? कालिदास ने महेश्वर की बाह्यमूर्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदित वसु (कुमार-सम्भव) “इतनी आखें होने के कारण वे कदाकार दीखते हैं, इसके अलावा उनके जन्म का भी ठिकाना नहीं है—और उनकी धन-दौलत का चिह्न उनका दिगम्बरत्व है” ।

किंतु मैं कह चुका हू कि बाहरी गुण-दोष अन्तरात्मा की अग्नि का परिचय नहीं देते । हम सभी लोग चरित्रहीन जगाई मघाई और पापडण्डित सेंट पाल की कहानी जानते हैं—यह आकस्मिक रूपांतर, चेतना का विपर्यय, जीवनधारा का विप्लव, भगवत्कृपा का फल है—यमेवैष वृणुते तेन लभ्य , सच्ची बात है, किंतु तो भी प्रश्न उठता है कि भगवत्कृपा सबके ऊपर क्यों नहीं होती अर्थात् सबके ऊपर समानभाव से फलवती क्यों नहीं होती ?

अन्तरात्मा की, अन्त पुरुष की—चैत्य पुरुष की—शक्ति अघटनघटना-पटीयसी है, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् भगवान् का, चिन्मयी महा-शक्ति का निज अंश है, स्थूल आयतन में ढाला हुआ उनकी सत्ता का कण है, चेतना का बिंदु है । इस बिंदु की अदम्य अव्यर्थ प्रेरणा है बढ़ते बढ़ते सिंघु में परिणत होना, केवल भगवान् के सालोक्य को ही प्राप्त नहीं करना अपितु उनके साजात्य और साधर्म्य को भी प्राप्त

करना। यह वेगना-विन्दु जनेन पीवन चारण करते हुए, दुःख-मुक्त के बन्धु-मित्र सभी अनुमर्षी की सहायता से सत्ता और वेगना को जयरा बहुतर विपुलतर बनाते हुए आये बङ्गा है और समका लय है इसी पारिवर्ध भाषण में अपनी निम्न स्वकीय भागवन समरणा और सारस्य की निधि।

हम दुष्टि में अपने अन्त-पुरस् में ही बीच पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण समर्थ है क्योंकि यहां वह प्रकृति का सत्त नहीं प्रकृति का ईश्वर है। इसीप्रिये उपनिषद् ने अपनी अनुपम भाषा और धर्म में कहा है—

हम विपार्वन्तुन देहपहन में प्रविष्ट आत्मा जिसके अंदर मज्जन हुई है सज्ज हुई है वह बिदध का कर्ता है वह नव का कर्ता है उनील यह लोक है वह स्वयं ही यह सब लोक है।

अन्त-पुरस् का अधिकार ही योगसाधना में एकमात्र अधिकार है, अन्त-पुरस् की वैमर्गिक स्वतःछिद्र बीसा ही योगसाधना की बीसा है। बीसा के लिये किसी बाह्य आयोजन और अनुष्ठान की जरूरत नहीं होती। यदि हम अन्तःपुरस् की धिति के ऊपर स्थित हों तो मन गुमदिन और भ्रुर्त्त सभी चीज हो जाते हैं। जिस मुहूर्त्त अन्तःपुरस् अपना निश्चय बना लेनी है कि इसी जीवन में इसी देह में वह प्रकट होगी वह देह प्राप्ति-मन पर अधिकार करेगी अब और प्रतीक्षा नहीं करेगी—उसी मुहूर्त्त सब भय वह लिये पये सब बीछा ग्रहण कर ली गयी। सिध्य ने अपने गुरु के निष्कट—अपने वैश्य गुरु अपने अन्तर्धामी के निष्कट—मणि-प्रपति निवेदन कर दिये और नुब ने भी उसको ग्रहण कर किया।

यस्यानुविता प्रतिबुद्ध आत्माप्रस्थिन् समीह्ये सहने प्रविष्टः ।
त विस्मह्य त हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स च लोक एव ॥
—बृहदारण्यक ४.४.१३

योग का अधिकार और दीक्षा

मात्र और दीक्षा असल में अन्तःपुरुष के स्पर्श के सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। हम लोगों की साधना में इसीलिये कोई दूसरा आचार-नियम, विधि-अनुष्ठान नहीं है। चैत्य पुरुष की चेतना में जागृत होने की, उसकी पुकार सुनने की—इस अन्तर्यामी पथप्रदर्शक की दृष्टि से, इशारे से, प्रेरणा में चलने की एकमात्र आवश्यकता है। इसीलिये हम लोगों की दीक्षा केवल एक बार का अनुष्ठान मात्र नहीं है, प्रति मुहूर्त्त यह दीक्षा ग्रहण करनी होती है, इसको नवीन रूप, नवीन प्राण देना होता है, क्योंकि प्रति मुहूर्त्त अन्तरात्मा के साथ बहिष्चेतना को युक्त रखना होता है, प्रति मुहूर्त्त निष्ठा की परीक्षा होती है—कि हम लोग अन्तरात्मा की ओर झुके हैं, उसकी धारा में चलते हैं या बहिर्मुखी प्राकृत प्रकृति की धारा में चलते हैं, मन-प्राण की तथा देह तक की सभी प्रवृत्तियाँ और गतियाँ गतानुगतिक-स्वभाव के द्वारा नियंत्रित होती हैं या ये अपने प्रच्छन्न दिव्य उत्स की ओर उन्मुक्त हैं, उसके साथ संयुक्त हैं। यह निरंतर चलने वाली दीक्षा सभी साधनाओं का मूल या प्रच्छन्न रहस्य है—पूर्णयोग-साधना का तो यह सपूर्ण रहस्य है।

योग

(विचार तथा प्रयत्न रूप में)

अपनी सत्ता के सत्य के अनुकूल जीवन बिठाना ही हमारी सामना है। अपने जीवन के सभी अंगों में हम उसी सत्य को अनिवार्य करने की चेष्टा करते हैं परंतु साधारणतः हमारी चेष्टा अंध होती है, अंधेरे में टटोल-टटोलकर आगे बढ़ती है और बराबर ही सत्यी विद्या में भ्रम की ओर झुक जाती है। उस सत्य को ठीक-ठीक समझ होकर जानना और अपने जीवन में उसे सिद्ध करना ही योग कहलाता है।

हमें अपने शरीर, प्राण और मन को इस तरह बदल देना और नये सच में डाल देना होगा जिससे वे लमबीन हो जायें उस सत्य के संग सदापूर्ण बालन बन जायें। परंतु जो विश्वास और अभ्यास उनके अंदर बसकर बैठ गये हैं वे इस परिवर्तन के सबसे बड़े बाधक हैं। शरीर को यह विश्वास ही नहीं होता कि बिना नियमों को यह जानता है और बिना यह अनुसरण करता या रहा है वे कभी बसने या हटाने या सकते हैं और यही बात प्राण और मन के विषय में भी कही जा सकती है। कहीं भी सत्य-चेतना का प्रकाश नहीं है, उच्चतर विषय संभावनाओं में समझ भी विश्वास नहीं है, हमारे जीवन की पंक्ति सदा से अज्ञान, अनिश्चित बंध रही है।

सबसे पहली अत्यावश्यक बात यह है कि हमारी सत्ता के प्रत्येक भाग में अपनी दिव्य सभावनाओं के प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो, यह विश्वास जमकर बैठ जाय कि हमारी समूची प्रकृति पूर्ण रूप से परिवर्तित और रूपांतरित हो सकती है, इसे होना ही होगा। इस विश्वास के अदर अचल-अटल स्थिति प्राप्त करने के बाद, अपने अदर से 'असम्भव' सबधी सभी प्रकार के सम्कारों को दूर भगाने के बाद, हमें अपनी सत्ता के सभी अंगों को मा भगवती की ओर खोले रखने का प्रयत्न करना चाहिये, तभी वह सत्य हमारे अदर अभिव्यक्त हो सकता है और वह अपनी प्रकृति के अनुसार हमें नया रूप दे सकता है।

*

* *

हे मा ! मेरे व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अपने अदर मिल जाने दे, जिससे मेरे अदर अपने पुराने जीवन का कोई भी चिह्न बाकी न रह जाय। केवल इसी तरीके से मैं अपनी सत्ता के सत्य को प्राप्त कर सकता हूँ, क्योंकि तेरे साथ मेरा एकत्व ही वास्तविक सत्य है और मेरा पार्यंक्य मिथ्या है, एक असत्य है जो सभी दुःखों और दुर्दशाओं का कारण है।

मा ! तेरे साथ पुन एकत्व प्राप्त करने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम अपने हाथों से तेरा चरण स्पर्श करें या कभी-कभी ध्यान में बैठा करें, हमें उन सभी चीजों का त्याग करना चाहिये जिनमें हम पहले से लिप्त हैं और तेरे सभी कार्यों, तेरी सभी क्रियाओं में पूर्ण रूप से तेरा साथ देना चाहिये। हमारा जीवन अबतक भी पुरानी धारणाओं और विचारों से, पुराने स्वार्थों तथा तत्संबंधी वस्तुओं से, पुरानी आदतों और प्रवृत्तियों से भरा हुआ है और ये सब मिलकर हे मा, तेरे साथ युक्त होने में हमें बड़ी बाधा पहुँचा रहे हैं। हमें इन सबकी ओर से मुह फेर लेना चाहिये और जो महान् कार्य, पृथ्वी

पर अविमानत सत्य को अभिव्यक्त करने का जो कार्य तु कर रही है, केवल उसीके साथ हमें साक्षात्म्य स्थापित करना चाहिये। हम अपनी गूँथ-झूँथ-गूँथ केवल इस बात पर मान्य करनी चाहिये कि इस अभिव्यक्ति के सिने अनुकूल अवस्था उत्पन्न हो और सब बाधाएँ दूर हो पायें।

और हे माँ ! हमें अपने सभी विचारों अनुभूतियों और कर्मों में तेरे ही आंतरिक स्पर्श और तेरी ही प्रेरणा को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। इस तरह जब हम तुझे सब प्रकार की व्योमि शक्ति और आनंद का मूल समझकर अपने अंदर तेरे साथ युक्त होयें और बाहर में तेरे इस महान् कार्य में जोड़ देंगे सभी तेरे साथ हमारा एकत्व पूर्ण होमा और हम वास्तव में तेरी दिव्य आत्मा के अंग बन सकेंगे।

माँ ! भोग का अर्थ केवल भोग विभक्त ही नहीं है और न तेरे चरणों में छिद्र देखना ही है। अवश्य ही ये चीजें बहुत सहायता करती हैं और इन्हींके द्वारा हम अपनी साधना आरंभ करते हैं परंतु केवल ये ही चीजें हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकतीं। हमें अपनी छोटी सत्ता को तेरी जीविष्ठ-आगत उपस्थिति से भर देना चाहिये हमें तेरे साथ निर्धार सक्रिय और सर्वांगीय एकरूप बनाये रखना चाहिये सभी एकरूप में निवास करना चाहिये और यही योग सत्य का वास्तविक अर्थ है।

हमारे अंदर ध्यान में या अनजान में इच्छा से या अनिच्छा से ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसे हमारी सत्ता का कोई-न-कोई भाग अनुमति सज्जन अनुमति न देता ही। हमें सदा तेरी व्योमि प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। खजय होकर अपने अंदर की व्यर्थ अज्ञानो-चित विचारों को दूर निकालना चाहिये और बुद्धि के साथ उनसे अपनी अनुमति दृष्टा लेनी चाहिये तथा सच्चे दिल से उन्हें निकाल बाहर

करने के लिये तेरी शक्ति का आवाहन करना चाहिये । यही योगिक साधना की सच्ची प्रक्रिया है ।

इसके बाद हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि इस ससार में तेरी क्या इच्छा है और फिर सचाई के साथ तेरी सेवा में अपने आप-को लगा देना चाहिये और उसमें सदा तेरी ही प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये । हमें केवल उसी विशुद्ध आनंद में डूबे रहना चाहिये जो तेरे प्रति सच्ची प्रीति और भक्ति रखने से उत्पन्न होता है । उस दिव्य आनंद का आस्वादन करने के लिये ऊपर से स्वयं देवगण हमारे अंदर उतर आवेंगे और दिव्य जीवन प्राप्त करने में हमें सहायता प्रदान करेंगे । यही योग-प्रणाली है जो हमें अवश्य ही सर्वोच्च सिद्धि प्रदान करेगी ।

अमीप्सा

अमीप्सा ही हमारी एकमात्र उपस्था है वही एकमात्र शक्ति है जिसे हमें सब समय और सब परिस्थितियों में अपने हृदय में प्रत्यक्ष रखना होता है। हमें अन्य कोई शक्ति बचाने की जरूरत नहीं दूसरी कोई उपस्था या कुछ साधना करने की आवश्यकता नहीं।

अगर हमारे मार्ग में अनुसर्गनीय कठिनाइयाँ आया आँ अथवा अज्ञान-अंधकार की शक्तियाँ हमें चारों ओर से घेरें और हमें अपनी भयानक माया के हाथ विमोहित करें तो उस समय हमें केवल अपने हृदय की इस आय को उपस्था के साथ सुरक्षित रखना चाहिए और सब फिर सारी बाधाएँ विखीन हो जाएँगी सारी बिरोधी शक्तियाँ बाहेँ क्षिति भी प्रचंड क्यों न हों परास्त हो जाएँगी।

अगर हम अत्यन्त नीचे भी गिर जायें और सारी शक्ति निर्मूल हुई ही मानस हो, अगर हमें कोई सहायता देनेवाला न हो हमें प्रसन्न करनेवाला न हो हमें रास्ता दिखानेवाला न हो, अगर हम सब कुछ को चुके हों और सबके हाथ परित्यक्त हो पड़े हों फिर भी यदि हम निरंतर, सचाई के साथ अपनी अमीप्सा को बनाये रखें तो अवश्य ही हमें ऊपर से (अर्थात् मन्वान् से) सहायता प्राप्त होगी और हम अत्यन्त नीची अवस्था से भी ऊपर उठ पायेंगे।

अगर अवसाद और तमस हमें अभिभूत कर दें और हम कुछ भी शक्ति न कर सकें, अगर अंधकार हमारे ऊपर चारों ओर से

अभीप्सा

आक्रमण करे और हम अपना रास्ता न देख सके, फिर भी अगर हम अपनी अभीप्सा को जीती-जागती बनाये रखें और सच्चे हृदय से ऊपर, भागवती शक्ति की ओर ताके तो तुरत हमारे अन्दर ताजी शक्ति, नया उत्साह भर जायगा और हम अपने सामने अपने मार्ग को साफ-साफ देखने लगेंगे ।

हमारे अन्दर जो कुछ सबसे उत्तम है उसे अभीप्सा जागृत करेगी, हमारी सभी शक्तियों को वह एकत्र कर उन्हें ऊर्ध्वमुखी बनावेगी, हमारी प्रकृति के अन्दर विद्यमान सभी भेद और विरोध केवल एक उद्देश्य और एक भक्ति के अन्दर विलीन हो जायेंगे और ऊपर से भगवत्-कृपा और दिव्य प्रेम नीचे उतर आयेंगे । अभीप्सा हमारे अन्दर दिव्य प्रेम को लायगी और वह प्रेम हमें विजय प्रदान करेगा ।

*

* *

हे मा ! मुझे एक ऐसी ज्योति-शिखा बना दे जो सदा तेरी ओर जलती रहे, मेरी अन्तरात्मा को अपने प्रेम के अन्दर घुलमिल जाने दे , यही एकमात्र उपाय है जिसमें मैं तेरे दिव्य जीवन के अन्दर नया जन्म ग्रहण कर सकूँगा ।

नाना प्रकार के विचार और भाव बाहर से आकर सदा मेरे मन में घुसने की चेष्टा करते हैं और मेरी अभीप्सा की ज्योति को स्थिर नहीं रहने देते , हे मा ! ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं दृढ़तापूर्वक ऐसे सभी बाधक विचारों को बाहर निकाल फेंकूँ और अपने मन को पूर्ण रूप से शुद्ध और स्वच्छ बनाये रखूँ ।

प्राणमय लोक से आने वाली कामनाएँ और आसक्तियाँ सदा मेरी ज्योति को तमसाच्छन्न करने और बुझा देने की चेष्टा करती हैं , मा ! ऐसा आशीर्वाद दे कि मैं ऐसी सभी नीच कामनाओं और

आसक्तियों को पूरी वृद्धा के साथ त्याग दूँ और अपने हृदय को पूर्ण स्वच्छ और सृष्ट बनाने रखूँ।

मेरी अभीष्टा की ज्योति को दुर्बल बनाने के लिये मेरे शरीर पर सब प्रकार के आक्रमण किये जाते हैं हे माँ ! ऐसा आशीर्वाद है कि मैं ऐसे सभी प्रयासों को विफल बना दूँ और अपने शरीर को तेरी पूजा के लिये स्वस्थ और बलिष्ठ बनाने रखूँ।

हे माँ ! देखी हूँ कि मेरी ज्योति अभीम धडा-बिरसा के साथ पुष्ट हो और सकल शान्ति और स्थिरता मेरी सारी सत्ता में बन जाय। तेरे आशीर्वाद ही हे मगदली माता ! मैं तित्त निर्धार दिव्य जीवन में उन्नत होता रहूँगा।

*

मेरी अन्तर सत्ता ने पुराने जप्प को पीछे छोड़ दिया है और जीवन के पुराने तरीकों का त्याग कर दिया है। किन्तु मेरी बाह्य प्रकृति में अभी तक पुराने जीवन के प्रति आकर्षण बना ही हुआ है और इस कारण मेरे अन्तर पुराने विचार और पुरानी कामनाएं बार-बार उठ करती हैं। हे माँ ! यदि तू मेरी सत्ता को पूर्ण रूप से बलिष्ठ न कर के और मेरी सत्ता के अन्तर जोर-जोर न हो जाय तो भला मैं कैसे इन सबसे एकत्रित मुक्त हो सकूँगा ?

ज्यों ही पुराने विचार और भाव मेरे मन में घुँसे त्यों ही हे माँ ! मैं तुझे पुकारूँगा और तुझे मेरे मन में अपने सत्त्व का प्रकाश भर देना होगा।

ज्यों ही मेरे अन्तर कामनाएं-वासनाएं, कुप्रवृत्तियाँ चामूठ होंगी त्यों ही माँ मैं तेरा आवाहन करूँगा और तुझे मेरे हृदय को सबसे माधुर्य और आनन्द से भर देना होगा।

ज्यों ही मेरे अन्तर अज्ञानमयी और विकृत किनाएं विद्युत् की त्यों ही हे माता मैं तेरी ओर उन्मुख हूँगा और तुझे मेरे प्राणों

अभीप्सा

को अपने सामजस्य और कृपा से भर देना होगा ।

हे मा ! मैं अपनी सारी अपूर्णताओं और अज्ञान-अधकार में सदा-सर्वदा एकमात्र तेरी ओर दृष्टि लगाये रहूँगा और यह आशा बनाये रखूँगा, यह अभीप्सा प्रज्वलित रखूँगा कि वह दिन बहुत शीघ्र आयगा जब तू पूर्ण रूप से मेरी सत्ता पर अपना अधिकार जमा लेगी और मुझे दिव्यत्व प्रदान करेगी ।

मनोविज्ञान और योग

मनोविज्ञान और योग आपस में बहुत घनिष्ठ संबंध रखते हैं। मनोविज्ञान का विषय है मन उसके अनेक चेतन अचेतन व्यवहार तथा उन व्यवहारों के नियम। योग का उद्देश्य है पूर्वोक्त समस्तचित्त चेतना। परंतु उस चेतना को प्राप्त करने के लिये हमें अपनी वर्तमान चेतना के व्यवहारों को समझना ही आवश्यक है। ठीक ही योग बृहत्तर और व्यापक मनोविज्ञान है। जहां मनोविज्ञान मन की चेतना से विशेष संबंध रखता है वहां योग विशेष रूप से आत्मा की पूर्वोक्त चेतना से संबंध रखता है। योग इष्टीतिमे आत्म-साक्षात्कार को अपना उच्च्य मानता है।

योग की आवश्यकता

किन्तु आधुनिक मनुष्य विरोध-अवर्जन-पूर्वक पूछेगा आत्मा से मैं संबंध ही क्यों रखूँ? आत्मा की वास्तविकता ही क्यों है? हमें इन प्रश्नों की अवकाश देना होगा। अतएव हम कम-से-कम अभी 'आत्मा' और 'आत्म-साक्षात्कार' इन शब्दों का प्रयोग नहीं करेंगे। किन्तु प्रत्यक्षता निश्चय ही यह मानेगा कि यह अपने कुछ मानसिक समता और समतुलित निर्भय-शक्ति में तथा अपने समर्थ जीवन और मन की सामान्य शांति में अवश्य गहरी दिलचस्पी रखता है। सब

मुच आजकल का विक्षिप्त जगत् इन वस्तुओं की आवश्यकता बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है। स्नायुविकार (nervous and mental disorders) इस युग की व्याधि है और निःसदेह स्नायुरोगी ही चिंता और बेचैनी से अतीव व्यथित होते हैं और बड़ी विह्वलता से शांति के लिये पुकारते हैं। स्विटजरलैंड में मेरी गृहरक्षिका ने एक प्रसंग में मुझसे पूछा था कि, 'क्या तुम्हें भी भारतवर्ष में अपने दैनिक कृत्यों के अनुष्ठान में इतनी दौड़-धूप करनी पड़ती है जितनी कि हम यहाँ करते हैं'। उस प्रश्न ने मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ी है। हमारा जीवन, जैसा कि यह आज संगठित है, भारी आवश्यकताओं से लदा हुआ है और हम प्रायः प्रतिक्षण अपने को दौड़धूप में ग्रस्त पाते हैं। पता नहीं हम किन बड़े कामों में लगे हुए हैं? बर्डज-वर्थ क्या अपनी इस शिकायत में सच्चा नहीं है कि, 'साधारण खान-पान, उपार्जन और व्यय में हम अपनी शक्तियों का नाश कर देते हैं (Getting and spending we lay waste our powers)?' ऐसे ससार में शांति की बड़ी भारी आवश्यकता स्वाभाविक ही है। जो व्यक्ति केवल खाने-पीने और साधारण 'सुखी जीवन' से सन्तुष्ट नहीं होते उनको तो सदा ही इसकी अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होती है। वे अधिक विस्तृत, सुखी और वस्तुतः पूर्ण जीवन की याचना करते हैं। इसी आवश्यकता से ही योग का उदय हुआ और इसे ही वह पूरा करना चाहता है। अतः योग का जिज्ञासु वह है जिसने अपने वर्तमान जीवन की अपूर्णताओं का तीव्र अनुभव किया है तथा जीवन के सच्चे अर्थ को खोजने तथा इसकी बृहत्तर शक्तियों को सिद्ध करने के लिये एकनिष्ठ है।

इसमें सदेह नहीं कि आजकल बहुत से लोग, विशेषतः शिक्षित वर्गों के, अपने जीवन की अपूर्णता महसूस करते हैं और कुछ थोड़े से चिंतन से वे अपनी इस कमी को भलीभाँति पहचान भी जायेंगे। परन्तु

कोई भी व्यक्ति इस अपूर्वता की पूर्ति के लिये क्या प्रयत्न करे? आधुनिक विज्ञान से उसने नयी आरतें और विचार-प्रभावितियाँ सीखी हैं। परिणामतः प्राचीन आधरणीय सांस्कृतिक वस्तुएं उसके लिये केवल इस कारण निरर्थक हो जाती हैं क्योंकि वह उन्हें समझ नहीं पाता। अतएव वर्तमान भारतीय विज्ञान का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राचीन विद्या को आधुनिक बुद्धि के लिये सुलभ बनाये। स्वामी श्यामाजी स्वामी विवेकानन्द और श्रीगुरुदेव-सद्गुरु महापुरुषों की सृष्टिका ने वर्तमान काल में हमारी इस प्राचीन विद्या की व्याख्या की है और इसका निरूपण किया है। सुप्रसिद्ध जीवन-चरित्र-लेखक रोमो रोलाँ (Romain Rolland) के शब्दों में "श्रीगुरुदेव एशिया की प्रतिभा और यूरोप की प्रतिभा के ऐसे पूर्वतम समन्वय हैं जो कि आज तक प्राप्त किया गया है। इस प्रकार पश्चिम के लिये भारतीय विद्या का सुनिरूपण करने तथा प्राचीन ज्ञान की अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों तक पहुँचाने के लिये यही उत्कृष्टतम व्यक्ति हैं। युवावस्था में ही उन्हें यह प्रतीत हो गया था कि लोग उनके जीवन की सर्वोच्च महत्वाकांक्षा हैं। और फिर वैयक्तिक अनुभव के आधार पर ही उन्होंने एक योग-प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है। हमारे देश का विद्यालव इतिहास जिन अनेक विभिन्न यौगिक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है उनका यह अत्यन्त सुन्दर, समसिद्ध और विद्यालव समन्वय है। इसके परिपक्व मनोविज्ञान ने मुझे बहुत आकृष्ट किया है और मैं चाहूँ भाव से प्रत्येक योग-विज्ञान की श्रीगुरुदेव का योग-विषयक साहित्य जिसकी सूची मनोविज्ञान-सर्वज्ञी अम्य उपयोगी शब्दों के साथ अन्त में आबद्ध है, पढ़ने के लिये निर्मणित कर सकता हूँ।

अवदमन (Repression)

योग का उदय जीवन की पूर्णता-विषयक अन्तःप्रेरणा से होता है। परंतु यौगिक प्रक्रिया का यथार्थ स्वरूप क्या है? व्यावहारिक दृष्टि में देखें तो अन्धप्रेरणा (instinct) और तर्कणा का संघर्ष ही यौगिक प्रयत्न का क्षेत्र है। मनुष्य अपनी प्रकृति से ही अनेकविध प्रवृत्तियों से युक्त है, उदाहरणार्थ, भय, लड़ने-झगड़ने की वृत्ति, मच्च्य-शीलता, लैङ्गिक प्रवृत्ति इत्यादि। ये व्यक्ति के विकास में भिन्न भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होती हैं। बच्चा सर्वप्रथम स्तन्य-पान, मुट्ठी में किसी चीज को पकड़ लेना, निगलना और कुछ अन्य प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है। कुछ समय बाद वह बैठना और चीजों के साथ खेलना शुरू करता है। कुछ और काल बीतने पर वह चलना प्रारंभ करता है और उसकी क्रीड़ा का क्षेत्र विस्तृत होने लगता है। लगभग १२ वर्ष की उम्र में उसे लिंग-ज्ञान होता है और वह लड़कों तथा लड़कियों में भेद करना शुरू करता है। तथापि इतर लिंग के प्रति भावात्मक आकर्षण बहुत देर में प्रकट होता है। प्रत्येक अन्ध-प्रेरणा अपने स्वभाव में उद्बुता और स्वेच्छाचारिता रखती है। यह प्रकट होने पर तत्क्षण ही संपूर्ण चेतना को बलात् पीछे पीछे खींचती है। यह अन्धप्रेरणा होती है। पक्ष-विपक्ष के विचार इसमें दखल नहीं दे सकते। बच्चे की स्वेच्छाचारी चेष्टा (impulse) सुपरिचित अनुभव है।

किंतु शनैः शनैः दह के भय और प्रशंसा तथा पारितोषिक के प्रलोभन से बच्चा इन अन्धप्रेरणाओं को सयत करना सीखता है और इस तरह वह आचार के सामाजिक आदर्श-मान का उत्तरोत्तर अधिक अनुसरण करने लगता है। वह आचार-व्यवहार के उन आदर्शों को बुद्धि में स्थान देने लगता है जिन्हें मनोविज्ञान-वेत्ता भावनाएँ (sentiments) कहते हैं। प्रौढ़ होने तक वह अपनी अन्धप्रेरणाओं

और आधेनों को काफ़ी हद तक कम-से-कम सम्यक् समाज में रहने के लिये पर्याप्त भाषा में बंध तथा समता में ले आता है। अंधश्रद्धा और आधेन अब भी उसके जीवन की प्रेरक-शक्तियों का काम करते हैं, परंतु वे अधिकतर में 'विष्ट-सामाजिक व्यवहार' की भाषना के अधीन रहते हैं। पर बसपि बच्चे के व्यवहार की अपेक्षा प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन की समस्वरता अधिक विकसित होती है तो भी बस्तुतः यह एक गड़ी-मुड़ी चीज होती है। बहुधा अंधश्रद्धाएं केवल इबा की मयी होती हैं जिससे सनकी वासना पुष्ट रूप से अचेतन में काम करती रहती और स्वप्नों तथा जीवन के अन्य अनेक प्रासंगिक कार्यों में आविर्भूत होती रहती है। इन सबी हुई अंधश्रद्धाओं की मचार्य क्रिया पर ही पिछले कुछ वर्षों में एक संपूर्ण मनोविज्ञान काड़ा हो गया है। यह विशेषकर इन प्रश्नों का समाधान उपस्थित करता है। अंधश्रद्धाओं का मचीर और विज्ञावटी नैतिक (moralistic) नियंत्रण कैसे व्यवसन (representation) पैदा कर देता है? ये व्यवसन कैसे अलसित हो काम करते रहते हैं? कैसे ये प्रच्छन्न रूप से स्वप्नों में तथा अनेक हाव-भावों में प्रकट होते हैं? फिर इन्हींसे ही कैसे मानसिक रोग पैदा हो जाते हैं?—इस सबकी जगदीन प्यार (Freud) ने अपने मनोविस्लेषण द्वारा बहुत सावधानता से की है। आत्म-प्रबंधना की अनेक नीतियां परीक्षात्मक रूप से स्थिर कर दी हैं।

योग का उद्देश्य

योग की वास्तविक समस्या है जीवन की पूर्ण समस्वरता या समतुलन। बिड़ोही आधेनो का बचीकरण मात्र पर्याप्त नहीं है। स्वतः आंतरिक वासना का ही निर्वाण स्फातर योग का ध्येय है। कुछेक विभिन्न भाषनाओं और बहुत से अर्ध-धर्मित आधेनों के संघर्ष

मय पयप्रदर्शन के अधीन काम करनेवाले साधारण सामाजिक मनुष्य के विषम, विभक्त जीवन की वजाय, योग उस अखंड और सर्वांगीण जीवन को अपना लक्ष्य बनाता है जो एक प्रधान भावना—सत्य के प्रति प्रेम की अथवा ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार या पूर्ण जीवन के प्रति प्रेम की एक प्रधान भावना—से परिचालित हो, और उसमें अपने अंदर की किसी असंतुष्ट वासना की बुडबुडाहट तक न हो।

इस प्रकार अपनी दृढ़ता प्रकट करनेवाली और स्वार्थतत्पर अधप्रेरणाओं को एक प्रधान सर्वनियामिका भावना की सर्वांगीण शक्ति में रूपांतरित करना योग की वास्तविक समस्या और क्रिया है। परंतु यह रूपांतर साधित कैसे हो ? क्या योग का यह महान् ध्येय प्राप्य है भी सही ? मनुष्य पशुवत् जीवन शुरू करता है और क्या उसके लिये अत तक वैसा ही रहना आवश्यक नहीं है ? पशु अपने जीवन से सन्तुष्ट है। अन्वप्रेरणा उसके जीवन का सर्वोपरि नियम है और उससे उसके सब काम पूरी तरह से चल जाते हैं। परंतु मनुष्य का ही यह भाग्य या विशेषाधिकार है कि वह 'आगे और पीछे देखे' और पश्चात्तापो, आंतरिक संघर्षों और निग्रहों का कष्ट झेले। यदि वह उनसे ऊंचा उठ सके तो वह निश्चित ही अतिमानव हो जाता है। परंतु क्या अतिमानव जीवन मनुष्य के लिये संभव है ? क्या मनुष्य अतिमानव बन सकता है ? कम-से-कम योग का उत्तर तो है विश्वास-पूर्ण 'हां', और यह साहसी वीर आत्माओं को चुनौती देने के लिये काफी है कि वे असाधारण लाभ के लिये अपने जीवन के साथ परीक्षण करें।

अभीप्सा और परित्याग

परंतु इस महान् उद्देश्य तक पहुंचानेवाला अनोखा उपाय कौन-सा है ? 'अभीप्सा', यह है योग का चामत्कारिक उत्तर। 'अभीप्सा

करो। तीव्रतया और सर्वात्मना अभीप्सा करो। प्राप्तव्य उद्देश्य के लिये अपनी सापी सत्ता से अभीप्सा करो अनन्यधितता और पूर्ण सत्पहसमता के साथ अभीप्सा करो। पर इसके साथ वर्तमान आसक्तियों के परिहाय की मनोवृत्ति भी आवश्यक है। विज्ञासु को ऐसे वर्तमान संबंधों से अपने आपको कूड़ा सेना होगा जो कि उसके उद्देश्य से टकराते हैं, उसके प्रतिस्पर्धी हैं। उसे अपनी मोहपूर्ण 'मानसिक रचनाओं' को मष्ट करना होगा ताकि नये आरम्भिक जीवन का सत्य सचन सड़ा हो सके।

एवं परिहाय तथा अभीप्सा की परस्परपूरक मनोवृत्तियाँ एक अनावात्मक और दूसरी आवात्मक रूपांतर का साधन बानू कर बिसाती हैं।

परंतु यहाँ यह सही तीर पर पुका जा सकता है कि 'अभीप्सा' मात्र से सिद्ध कैसे प्राप्त होती है? 'इच्छा' सिद्धि तक कैसे पहुँचा देती है? पहली बात तो यह है कि 'इच्छा' और 'अभीप्सा' एक ही चीज नहीं है। अभीप्सा का अर्थ है 'बंसीर अधिकारता व संकल्प'। परंतु 'बंसीर अधिकारता' या अभीप्सा स्वतः ही अभीष्ट प्राप्ति कैसे कर देते हैं? जब मनोविज्ञान के अनुसार 'सामान्य नियम' यह है कि जब 'किसी काम का करना किसी करणीय काम का विचार' केतना को इस प्रकार व्याप्त कर देता है कि बिद्येपी दुसाओं या प्रेरणाओं (suggestions) को निकासकर सर्वथा बाहर कर दे या बचा दे तभी किया पटित होती है। पुनश्च 'अगर यह पता हो कि हम कोई बिबा कर सकते हैं तो उसे करने के लिये जो कुछ आवश्यक है वह इतना ही कि इसके बिचार की या इससे प्राप्य उद्देश्य की अपने और अनन्य रूप में प्रबलता या प्रबलता प्राप्त करने का सत्य करें'—स्टीट (Stout)। इस प्रकार किसी कार्य या परिणाम की सिद्धि के लिये 'असम-सिद्धम

पूर्वक उसकी ओर ध्यान लगाना' वस यही सब कुछ है जो अपेक्षित है। सच तो यह है कि 'विचारो की अपने आपको कार्य में परिणत कर लेने की प्रवृत्ति अब मनोविज्ञान में एक प्रसिद्ध चीज है'—स्टोइट । परंतु कभी कभी हमारे इरादे और इच्छा के विरुद्ध भी कार्य हो जाते हैं। एक युवक जो अभी हाल में अपना भाषण देनेवाला है, पहले से ही यह समझता है कि वह कापेगा और पीला पड़ जायगा और कदाचित् असगत बोलने लगेगा। वह चाहता है कि वह इससे सर्वथा भिन्न व्यवहार करे, तो भी ऐन मौके पर उसका यह ख्याल कि वह ठीक भाषण दे सकने में इतनी आशका रखता है उसके मन को ऐसे घेर लेता है कि 'वह जैसी आशका करता था वैसा ही अपरिहार्य रूप से कर बैठता है।' इस प्रकार, यह उसके ठीक प्रकार भाषण दे सकने में इतना डरने का ही ख्याल है जो उसके मन को आ घेरता है और उसके व्यवहार का निर्धारण करता है। निरुद्ध विचारो (fixed ideas) की दशा में भी, जहां कि व्यक्ति अनिच्छापूर्वक किसी 'आ घेरने वाले पाप' या प्रबल प्रलोभन के अधीन हो जाता है, ठीक यही बात होती है। "विचार की मोहक दिलचस्पी के कारण कार्य करने का और उसके फल का ख्याल उसके मन में तीव्र स्पष्टता के साथ बलात् प्रविष्ट हो जाता है और वह उसे कर डालने में अपने को बाधित अनुभव करता है"—स्टोइट । यह स्पष्ट है कि विचार और इच्छा की अवाछनीय आदतो पर विजय पाने का केवलमात्र प्रभावशाली उपाय उनकी तरफ से अपना ध्यान और अनुमति हटा लेना ही है। किसी वस्तु में अनुराग कायम रखते हुए उसकी क्रिया का दमन कर डालना गीतोक्त मिथ्याचार ही है, और मनुष्य के आतिरिक्त सघर्ष की समस्या का यह कोई हल नहीं है।

तो क्या सघर्ष और मानसिक गड़बड़ से बचने के लिये दमन सर्वथा बुरा और रमण (indulgence) वास्तविक उपाय है,

क्या कि बहुतों की समझ में मनोविश्लेषकों का भी समिप्राय है? न यह बात नहीं है। सम्प्रति और सिखा में निग्रह आवश्यक है और फायदा अपनी छतियों में इसे स्पष्ट स्वीकार करता है।

इस प्रकार समझ या निग्रह आवश्यक है। परंतु यह केवल सामयिक और अचूक है। पूर्ण समाधान तो वही तृप्त प्रकृति के उदात्तीकरण (sublimation) या क्वांटर से ही होया और इसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक है वासना से मुक्ति के लिये तीव्र अभ्यास और प्राप्य चहेत्य पर ध्यान का केंद्रिकरण।

ध्यानसंबंधी मनोविज्ञान (Psychology of attention) यानी एक अपूर्ण चीज है। परंतु जबतक ध्यान के बारे में जो कुछ ज्ञात है उसके आधार पर कम-से-कम ऐसी आस्था रखना संभव है कि योग का यह दावा सर्वथा असत्य नहीं है कि उसके अभ्यास से मन की उच्चतर चक्षितता प्राप्त हो सकती है।

योग मुख्यतया मानसिक तथा आंतरिक अभ्यास है

स्वामी विवेकानन्द ने मनोवैज्ञानिक योग की बात कही की जबकि प्रधानतया मानसिक नियमन से बचनेवाले योग की। श्री अरविन्द भी योग को आंतरिक अभ्यास मानते हैं। विद्वत्पर विवेचता यह है कि इसका साधन मन नहीं बल्कि अन्तरात्मा (psychic)। यह अभ्यास का एक मौलिक प्रकृत है जिसकी चर्चा हम यहाँ नहीं कर सकते। पर पर्यवेक्षि साधनपद्धति में योग के अभ्यास की उक्त पद्धति का भी निरूपण करते हैं जिसमें यम नियम आसन, प्राणायाम के उपानो द्वारा वर्णित शारीरिक उप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारा विवरण बेशक मुख्यतया मनोवैज्ञानिक है। पर इसका यह मतलब नहीं कि हम परिमित भोजन या शारीरिक संयम के अन्य वर्गों का

मूल्य कम करना चाहते हैं, तो भी इतना अवश्य मानते हैं कि योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु मानसिक वृत्तियों का निरोध ही है (जैसा कि पातजल योग के प्रथम पाद में वर्णित है), और शारीरिक नियंत्रण केवल उपकरण के तौर पर, साधन के तौर पर ही उपादेय है। यह शोचनीय बात है कि प्रायः बाह्य नियमों को ही योगाभ्यास का बड़ा भाग बना दिया जाता है। ऐसी अवस्था में बहुधा तपस्या, सुख का परित्याग और इन्कार या दमन अपने आपमें ही उद्देश्य बन जाते हैं। परन्तु तपस्या नियंत्रण के तौर पर उचित और उपयोगी होती हुई भी यौगिक जीवन का अन्तिम स्वरूप नहीं बन सकती। तपस्वी और भोगवादी में भेद केवल इतना ही है कि पहला तो अपनी सुख की इच्छा को दबाये हुए रखता है और दूसरा अपने आपको उसके प्रति खुल्लमखुल्ला सौंप देता है। योग में आंतरिक चेतना का मूल-गामी परिवर्तन, जीवनविषयक दृष्टि को पलटना और जीवन के सब व्यवहारों में नये मूल्यों का निर्धारण समाविष्ट है। यह व्यक्तित्व का और फलतः इसके समार का पूर्ण रूपांतर है।

वचन से अभ्यास की आवश्यकता

जो लोग प्रौढावस्था में यौगिक जीवन के सौंदर्य और सामर्थ्य से अभिज्ञ होकर अपनी प्रवृत्तियों के रूपांतर के लिये सचाई के साथ उद्योग शुरू करते हैं वे सोचते हैं कि उन्हें बहुत पहले ही कुछ आधार-भूत मनोवृत्तियाँ बना लेनी चाहिये थीं। उन्हें अनुभव होता है कि यदि उन्होंने ऐसा कर लिया होता तो वे बहुत से संघर्षों से बच जाते। यह स्पष्ट है कि वचन में ठीक मनोवृत्तियों और मूल्यांकनों (valuations) का अभ्यास अधिक सुगमता डाला जा सकता है और यदि ऐसा किया जाय तो यह व्यक्ति के जीवन की सर्वोत्तम

योगविचार

संपत्ति होगी। यह समझी देवी संपन्न होगी जो उसे अधिक योग्यता से और सुरापूर्वक जीवन-संघर्षों से पार कर देगी। अनेकानेक पन-दीपक के जिसे हृदय दहनी चिता के साथ दहन कर रहे हैं।

ईश्वर की सृष्टि

हमारी विवेचना अभी ही गयी है और साफर अभी और अभी बिज बाय। अब हम छह भर के समय अपने अस्तित्व के विचार का विहावकोलन कर लें। हमने आरंभ इस प्रश्न से किया था कि योग की समस्या क्या है? हमने बताया था कि वर्तमान जीवन की अपूर्वता इसके सबसे बड़ा और कठिनाईपूर्ण अंग और सुमनस्य जीवन की नींव को उत्प्रेरित करती है। इस प्रकार ही योगिक अभीष्टों का उद्भव होता है। हमने विस्तारपूर्वक देखा था कि योग की सच्चाई प्रकिया सागर, पूर्ण आसक्तियों के परिणाम तथा प्राकृतिक उत्पत्ति की अभीष्टों के ही पहलुओं से बनी है। अब हमने पुष्ट मनो-वैज्ञानिक प्रमाण और मार्गों के द्वारा विशेष-अनुभव यह दिखाया था कि ईश्वर ध्यान का नियमन और एकाग्रता (जिसे पाठकाल योग में सद्यः नाम से पुकारा गया है) स्वयं ही योग का सब समर्थक करने में समर्थ होती है।

अब हम योग के स्वरूप-निरूपण में अपना आवश्यक कदम के सहज हैं। अबतक हमारा विवेचन अनुभव-मूलक और मनो-वैज्ञानिक रहा है। हमने आत्मा और परमात्मा के विचारों को ज्ञानबूझकर छोड़ दिया था। हमने कहा था कि आधुनिक मन इनकी सृष्टि को मानने में कठिनाई अनुभव करता है। और हमें इस मनोबल से सहानुभूति हो सकती है क्योंकि सृष्टा-रूप बड़े अतीव दीर्घकाल से परमात्मा के नाम के साथ जितना कह रहे हैं और

उसके नाम पर उन्होंने मनुष्य के प्रति गम्भीर अपराध तक किये हैं। परन्तु धर्म प्रबुद्ध आत्मा के जीवित-जागृत अनुभव के रूप में ही असली धर्म है और यह खेदजनक है कि हम धर्म के पूजीपतियों या सघटित धर्मों के अधिकारियों के इस दावे को स्वीकार कर ले कि वे ही ईश्वर के एकाधिकारी हैं। धर्म और ईश्वर के विरुद्ध वर्तमान घृणा वस्तुतः धार्मिक सस्थाओं के प्रति हमारा विद्रोह है। आंतरिक अनुभवात्मक धर्म का सारभूत स्वरूप है उस परम पुरुष में, जो कि हमारी अभीप्सा का प्रत्युत्तर देता है, विश्राम, शांति, आश्वासन और सुरक्षा को खोजना। अपने इस रूप में धर्म मनुष्य के लिये आवश्यक है और चाहे समय-समय पर मनुष्य की जिज्ञासा प्राकृतिक विज्ञान की प्रणालिकाओं या सामाजिक पुनर्निर्माण की समस्याओं की ओर फिर जाय, परन्तु क्योंकि यह मानव आत्मा के लिये आधारभूत वस्तु है अतः चरम सत्ता के विधान में सुरक्षा पाने की आवश्यकता बीच-बीच में लुप्तप्राय होकर भी अपने आपको अवश्य, पूर्वपिक्षया अधिक जोश के साथ, पुनः-पुनः प्रतिष्ठापित करती है। मानवजाति के इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है।

१९ वीं सदी विज्ञान और अज्ञेयवाद की सदी थी। हेकल और अन्य विद्वानों ने 'जगत् की पहली' को केवल प्रकृति के द्वारा हल कर डालने की विश्वासपूर्वक आशा की थी। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हो चुकी है और अब ब्रह्मांड की सत्ता के अन्तिम तत्त्व के तौर पर प्रकृति को निश्चित रूप से अपर्याप्त माना जाता है। निःसन्देह वर्तमान भौतिक विज्ञान और जीवन-विज्ञान को, आदर्शवादी दर्शन का तो कहना ही क्या, सत्ता के मूल के तौर पर विश्वव्यापी चेतना स्पष्टतया अभिमत है या उनका इस ओर स्पष्ट झुकाव है। इस सवध में प्रामाणिक व्यक्तियों के अपने कुछ शब्द विशेष रोचक होंगे। प्रोफेसर एडिंगटन (Eddington) कहते हैं, 'हमारे अनुभव में मन सर्वप्रथम और प्रत्यक्षतम वस्तु है। अन्य सब कुछ दूरवर्ती

अनुमान है। भौतिक विज्ञान की तथाकथित प्रकृति केवलमान एक संकेतों का संस्थान है। एक बूझने अति प्रामाणिक विज्ञान प्लैंक (Planck) ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है, 'मैं चेतना को आधार मूल मानता हूँ। प्रकृति को चेतना से निर्यत मानता हूँ। हम चेतना से परे नहीं जा सकते। प्रत्येक वस्तु जिसके बारे में हम बात करते हैं या जिसे हम सड़ के तौर पर स्वीकार करते हैं चेतना की अपेक्षा रहस्यी है।' सी जेम्स जीम्स (Sir James Jeans) के अनुसार, 'यह विश्व एक पवित्रशास्त्रीय विचारक के मन का एक विचार है' और जो ये पदार्थ हमें विपरीतमूल होते दृष्टिगोचर होते हैं उसका कारण है उनका 'किसी सारकत आत्मा के मन में रहना'। और सल्लिवान (Sullivan) अपनी पुस्तक 'प्रख्यात वैज्ञानिकों के साथ मेट' (Interviews with Eminent Scientists) में आइंस्टीन (Einstein) के संबंध में विवरण देता हुआ कहता है "ऐसा प्रतीत होता है कि नये विश्व में हमारी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि (Insight) को उदना ही प्रामाणिक स्थान प्राप्त है जिसका कि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को। निश्चयेह उनमेंसे सबसे बड़े निर्माता की रूप में हमारी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का स्रोत और प्रेरणार्थक है। १९वीं सदी में विज्ञान और धर्म में बड़ा तीव्र संघर्ष था। तब मन और चेतना विज्ञान की दृष्टि में निरा और होव के पात्र थे। और आज ऊपर उद्घुष्ट किसे बचन फिटनी बरसी हुई व्यवस्था को प्रकट करते हैं। प्रकृति एक संचित और प्रतीति भाव बन गयी है। चेतना और मन वास्तविक सत्ताएं हैं। वास्तव में ज्ञान पाने की वैज्ञानिक प्रयासी को दार्शनिक अन्तर्दृष्टि पर आधारित समझा जाता है।

यह हमारा हमसे कोई संबंध नहीं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान की दृष्टि में दार्शनिक सत्ता का पूरा विश्व क्या है ज्ञान कि यह निर

पक्षवाद है या बहुत्ववाद या कोई और वाद। युक्ति का सार यह है कि आज विज्ञान भी उम विषय-चेतना की वास्तविकता को स्वीकार करता है जिसे कि धर्म ईश्वर कहकर पुकारता है।

आधुनिक जीवन-विज्ञान मृष्टि को सप्रयोजन मानता है क्योंकि डाविन की ये धारणाएँ कि जीवन ययवत् व अवुद्धिपूर्व है, अधिकचरी पायी गयी है। अब यदि जीवन की वृद्धि और विकास को कोई 'प्रयोजन' धासित और नियन्त्रित करता है तो यह 'प्रयोजन' जिस चेतना का है उसकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार एक अन्य महत्वपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर चरम मानस की सत्ता स्थापित होती है।

स्वयं विज्ञान की साक्षी और परिणाम एक समकालीन विचार-शील व्यक्ति को निश्चयपूर्वक ईश्वर-विश्वास की तरफ प्रेरित करेगे। जोड (Joad) के अनुसार पिछले २५ वर्षों में गत सपूर्ण शताब्दी की अपेक्षा धार्मिक विषयो पर अधिक पुस्तकें लिखी गयी हैं। तो भी इसका यह आशय नहीं है कि हम क्रियात्मकतया अधिक धार्मिक हो गये हैं। हा, इतना निःसकोच कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र धार्मिक जिज्ञासा बढ रही और उत्कट हो रही है।

योग में ईश्वर की आवश्यकता

हमने योगविषयक वर्णन शुद्ध रूप से अनुभव-मूलक और मनो-वैज्ञानिक तरीके से शुरू किया था। परन्तु अब ईश्वर की सत्ता-विषयक उपर्युक्त समीक्षा के बाद, यौगिक प्रयत्न के साथ परमात्मा के सबध पर विचार करना सभव है। पतजलि की योग-पद्धति 'ईश्वर' को अपरिहार्य समझती है। वह 'ईश्वर' 'सनातन गुरु' है। उसकी सत्ता एक ऐसी अतिमानस शक्ति है जिसे कर्म-फल और क्लेश स्पशं

भी नहीं कर सकते। यह सर्वज्ञ और अनुपम है। उसके प्रति समर्पण से ही साधक समाधि का लाभ करता है। (पाठ्यक्रम योगदर्शन पाठ १ सूत्र २३ २६)

श्रीहरचिन्मय के योग में वर्णित परमात्मा वा भगवान् का स्वस्वरूप योगाभ्यास के साथ अधिक पूर्णतया संबद्ध है। निश्चिह्न व्यक्तित्व का क्वांटर व्यक्ति के निज प्रयत्न से ही प्रारंभ होना और बकाया जाता है परंतु यह सदा परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से ही आने बढ़ता है। और ईश्वर वा परम चैतन्य जो अपनी परिपूर्णता में पूर्णता के असीम के लिये कक्ष्यामय होता है उसके कार्य की वृत्ति के लिये तथा उसे पूर्ण पुरुष बनाने के लिये सहायक बनकर जाता है। कृपा का सुप्रसिद्ध सिद्धांत ठीक यही है। इस प्रकार, अपूर्ण मानव प्रयत्न के लिये आवश्यक कृपा अनिवार्य है और यह सर्वथा ठीक नहीं है कि साधक का अपना प्रयत्न कारण-कार्य के नियम से बौद्धिक परिणामों को पैदा कर देता है। बल्कि यह कहना अधिक ठीक है कि जैसे एक माता अपने बच्चे के प्रयत्नों की सहायता से जब कि वह किसी काम को करने के लिये बी-तोड़ मेहनत करता है, उसकी सहायता करना चाहती और उसके प्रयत्न को सफल करना चाहती है एवं परमेश्वर अपनी कृपा के प्रयोग से मनुष्य के पूर्णता-प्राप्ति के प्रयत्नों को कुतकृत्य करता है।

व्यक्तित्व के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सहायता

इस विषय का प्रयोजन योग-विषय की सामान्य मनोवैज्ञानिक भूमिका प्रस्तुत करना है। हमने महात्मक मुख्यतया बौद्धिक क्वांटर के कार्य में काम वा सक्रियवाली मनोवैज्ञानिक क्रिया की व्याख्या की है तथा जारैम (impulse) और बुद्धि व उस सामयिक आधार

की व्याख्या की है जो सामान्य मानव-जीवन के सघर्ष और विशृंखलता को तथा फिर योग के लक्ष्यभूत समन्वय जीवन के स्वरूप को जन्म देता है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में कुछ प्रवृत्तियाँ हैं जिनका अध्ययन योग के जिज्ञासु के लिये सहायक उपक्रम का काम कर सकता है। अब हम इन्हीं प्रवृत्तियों की ओर आते हैं।

मनोविज्ञान की लोकप्रिय परिभाषा यह हो सकती है कि यह मन और उसकी क्रियाओं का अध्ययन है। स्वतः मानसिक क्रिया को उन्नत करना या मानव-प्रकृति का सुधार इसका साक्षात् लक्ष्य नहीं है। यह वास्तविकता का अध्ययन मात्र है, यह स्वाभाविक क्रिया के गुण-दोष का विवेचन करता है। परन्तु ऐसा करने में इसे कर्म के उन आवारभूत स्रोतों को खोज निकालना होता है जिनका ज्ञान क्रियात्मक उपयोग में लाया जा सकता है। मैकडूगल ने अपने ग्रन्थ 'चरित्र और आचरण' (Character and the Conduct of Life) में जिसका उपनाम 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' है, मनोविज्ञान के वर्णनात्मक विज्ञान को जीवन के क्रियात्मक पथप्रदर्शन के लिये यथार्थतः बदल डाला है। मनोविज्ञान का सावधानतापूर्ण अध्ययन मनुष्य को अपने मन की गतियों का निरीक्षक बना देता है और यह चीज स्वयं योगाभ्यास की प्रगति में सहायक है। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन से उसे अपने मन की तथा सामान्य मन की क्रियाओं का कुछ वास्तविकतापूर्ण ज्ञान हो जाता है। इससे वह मनुष्य के साधारण प्रेरकभावों से परिचित हो सकता है। हमने कहा था कि योग से नये मूल्यांकनों की प्राप्ति करनी होती है जिसका वास्तविक अर्थ है नये प्रेरकभावों की प्राप्ति। और इसके लिये विद्यमान साधारण प्रेरकभावों की जानकारी अवश्य उपयोगी होगी, और इसमें सदेह नहीं कि नये प्रेरकभावों के निर्माण के लिये तो यह आवश्यक होगी। सामान्य मनोविज्ञान के साथ, 'व्यक्तित्व का

मोनोबिचार

संयोजन' ओ मनोविज्ञान में नयी प्रबल प्रगति है मोन के विद्यार्थी के सिधे विशेष उपयोगी होली संभव है। अन्तःआसी रसों (endocrine secretions) का सिद्धांत जो कि इस प्रगति का एक विशेष सिद्धांत है प्रतिपादित करता है कि थायैयक (thyroid) उपथायैयक (parathyroid) ऐड्रीनल (adrenal) और गोनड (gonads) जैसी प्रभासी-रहित ग्रंथियों के रस व्यक्तित्व के चरित्र पर बोजक प्रभाव डालते हैं। यह उस माटीरिक नियंत्रण की उपयोगिता को स्पष्टतया पुष्ट करता है जिसपर पतंजलि बल बैठे हैं। संभव है कि आधुन इन ग्रंथियों के रसों को उत्तेजित करने में कुछ प्रभाव रखते हों। ग्रंथि रसों के बिना में मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ (Woodworth) कहता है कि 'मूय लैंगिक अंग स्त्री का डिम्बकोष (female ovary) और पुरुष का वज्जकोष (male testes) बीजाणु-कोष्ठों (germ cells) को तथा रज और बीज को पैदा करने के अतिरिक्त मनुष्य की वृद्धि और व्यवहार पर महत्वपूर्ण असर डालनेवाले हार्मोन्स (hormones) को भी बनाते हैं। तथापि इन हार्मोन्स (hormones) का ठीक-ठीक प्रभाव जमीनक पूर्ववत् ज्ञात नहीं है।

मनोविश्लेषण

विष्णु मोन का उद्देश्यभूत अन्तरि सजीवीय और पूर्ण है। सामान्य मनोविज्ञान व्यक्तित्व के बीजिक परिवर्तन के सिधे पर्याप्त पहुँचई तक नहीं जाना। इसक सिधे अधिक उपयुक्त है मनोविज्ञान की सर्व प्रगति माता मनोविश्लेषण। हमने पहले भी दसकी ओर कुछ निरग निये हैं पर अब हम वैयक्तिक उन्नति की विद्या और बला की वृद्धि से इनका अधिक पूर्ण नियंत्रण करने का चाल करेने।

अवचेतना का खोलना

मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी खोज है अवचेतन और उसकी क्रियाओं के नियम। अवचेतन का विचार पहले भी विदित था किन्तु मनोविश्लेषण यह सही दावा भर सकता है कि उसने मानव के साधारण और असाधारण व्यवहार में अवचेतन के प्रकट होने की कुटिल गतियों का सर्वप्रथम अनुभवमूलक अध्ययन किया है। मनो-विज्ञान की इस शाखा के आविष्कारक फ्रायड (Freud) का यह आग्रहपूर्वक कहना है कि अवचेतन सम्पूर्ण मानसिक जीवन का नौ दशमांश है। स्वयं यह विचार भी व्यक्तित्व के गम्भीर आलोडन के लिये एक बहुमूल्य सहायता है।

इसके बाद निग्रह का विचार एक और बड़ी देन है। 'वचाव-प्रतिक्रिया' (defence reaction) भी एक अमूल्य विचार है। इसके यथार्थ स्वरूप की हम थोड़ी-सी व्याख्या करते हैं। जिन कष्टप्रद कार्यों को हम अपने आन्तरिक जीवन में झेल चुके हैं उनसे विपरीत कार्यों की हमारे सचेतन व्यवहार में अधिकता 'वचाव-प्रतिक्रिया' कहलाती है। इसीके कारण सबको घृणा से देखनेवाला शुष्क तार्किक (cynic) अपने हृदय में अतिभावुक होता है और बहुत बल दिखलानेवाला लडाका (bully) अन्दर से भीरु होता है। जो व्यक्ति आत्मतुच्छता (inferiority) से ग्रस्त होते हैं वे प्रायः दर्प और अभिमान को बढ-चढकर प्रकट करते हैं। वहि क्षेपण (projection) भी वचाव-प्रतिक्रिया का एक रूप है और इसमें मानसिक पदार्थ को मन के बाहर किसी स्थान पर स्थापित किया जाता है। एक मनुष्य जो स्वयं घमण्डी है वह सर्वत्र घमण्ड देखता है और उसकी निन्दा करता है।

दमन या रमण

इन सब नाटिक क्रियाओं में किसी इच्छा या कामना का निग्रह बलनिहित होता है और इनका विस्मरण तथा इनके आधार में काम कर रहे निग्रहों की जगहवा मनोविस्मरणों का प्रधान विषय रहा है। मनोविस्मरण का साहित्य पढ़ने से निग्रह और इसके हासि कर परिणामों के बारे में इतना व्यापक असर पड़ता है कि पाठक को मनोविस्मरण से सदा यही सिखा मिलती है कि जीवन में एतना बर्बनीम वस्तु निग्रह है। परन्तु हम पूछेंगे तो क्या 'स्वच्छन्द रहना' जीवन के लिये रामबाण है? यहाँ धर्म के अपने कुछ सम्य बहुत लोगों की जानें सोलनेवाले छिड़ होंगे। अपनी मृत्यु ॥ कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित अपनी नयी प्राथमिक व्याख्यानमाला में शिक्षा के मामले का स्पष्टीकरण करते हुए वह कहता है, "बच्चे को अपनी बन्धनरेखा को संयत करना सीखना चाहिये। अपने भावों का बेरोकटोक अनुसरण करने के लिये उन कुछी छूट दे देना असम्भव है। अतः शिक्षा का प्रयोजन निषेध करना टोकना बाला है। किन्तु हमने विस्मरण द्वारा यह भाव्य किया है कि बन्धनरेखाओं का दमन स्नायुरों के सतरे से मरा है। अतः बन्धनरेखा को चुली नीका करने देने और उसे निरास करने के दुर्य और साई के बीच का मार्ग शिक्षा को बनाना है। और इस प्रकार हम दिन समझा पर तथा किन विविधों से शिक्षता रोक सकते हैं यह भाव्य करने से ही समस्या का हक निकलेगा। इसके अतिरिक्त बच्चों की शरीररचनात्मक प्रकृतियों के भेद का भी स्वाक रहना होगा।

सावक को भी योवाध्यास में अपने आपको नयी मनोवृत्तियों और नये मूल्यांकनों में प्रसिद्ध करना होता है। अतएव उपर्युक्त निरोध उसके लिये पुरे के पुरे लागू होते हैं। बीजे-बीजे उसे भी

अति रमण (over-indulgence) और अति निग्रह के बीच सावधानतापूर्वक मार्ग बनाते हुए अपने को उन्नत करना है।

भावना-शुद्धि

मनोविश्लेषण मानसिक-विकार-विज्ञान के नये ढंग से सत्यहृदयता के नैतिक गुण में हमारे विश्वास को पुनः दृढ़ करता है और यह योग की प्रगति के लिये अतीव आवश्यक है। सब मानसिक गटवडों में निग्रह अर्थात् दबी हुई अतृप्त वासना छिपी रहती है। यह असन्तुष्ट वासना आत्म-वचना की अनेक यान्त्रिक क्रियाओं के द्वारा व्याधि के लक्षण पैदा करती है। अब मनोविश्लेषणात्मक उपचार के अनुसार रोगी को स्वतन्त्र ससर्ग (Free Association) और स्वप्न-विश्लेषण (Dream Interpretation) की पारिभाषिक प्रक्रियाओं में से गुजारा जाता है जिनमें मानसिक गडबड के पीछे विद्यमान असली प्रेरकभाव उसके सामने आवें और वह उन्हें स्वीकार कर सके। इसीसे रोग दूर हो जाता है। क्या यह अपने प्रति सत्यहृदयता का और ईमानदारी के महत्त्व का क्रियात्मक उदाहरण नहीं है? फ्रायड कहता है, 'मनोविश्लेषण का लक्ष्य है जीवन के अवचेतन भाग की खोज और इससे अधिक किसी चीज को वह प्राप्त भी नहीं कर सकता।' और उपचार का उद्देश्य यह होता है कि पारिभाषिक प्रक्रिया के द्वारा रोगी को अपनी आत्म-वञ्चनाओं की ओट में अपनी इच्छाओं को देखने और चेतना के स्तर पर उनके साथ मुकाबला करने में तथा अपने प्रति पूर्णतया सच्चा और ईमानदार रहने में समर्थ बनाया जाय। योगाभ्यास के लिये भी ठीक ये गुण—सच्चाई और ईमानदारी—अनिवार्य हैं और साधक को इनमें पूर्ण हार्दिक विश्वास होना जरूरी ठहरा। मनोविश्लेषण द्वारा सगृहीत दृष्टान्त-रूप साक्षी

इस विश्वास की और भी अधिक पुष्ट करती है।

इस विषय में श्रीभरविन्द की देन

श्रवण ने मुख्यतया मनुष्य की पशुप्राप्त राय (animal heritance) का ही अध्ययन किया है—उसका जो कि मनुष्य अपने विकास के अतीत काल में रहा है। परन्तु वह जो कुछ बन सकता है उसका अर्थात् उसके स्वभाव की सम्भाव्यताओं का श्रवण ने सङ्केत मात्र ही किया है। पर ठीक यही पशु श्रीभरविन्द का विशेष निजी क्षेत्र है। अतिचेतन अपनी उच्चतर सम्भाव्यशक्तियों (potentialities) की सामग्री के साथ अवचेतन का परिपूरक बनकर मानव प्रकृति का पूर्ण चित्र देता करता है। अतिचेतन (super-conscious) का व्यक्तीकरण और त्याग की क्रियात्मक विधि के स्वरूप का निरूपण वे श्रीभरविन्द की जो महान् देन हैं जिनका मनोवैज्ञानिक मूल्य बालने में अभी हमें कुछ समय लगेगा। तब यह है कि योग अपने समस्त रूप में वास्तविक मनोविश्लेषण को महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ा सकता है। कास्टर का यह कहना ठीक है कि 'यद्यपि योग मुख्यतया पूर्वीय पद्धति है तो भी इसमें वह कुछ है जिसकी परिधि को आवरणकटा है यदि विश्लेषणात्मक पद्धति और सिद्धांत को आधुनिक जीवन के पुनरुज्जीवक और पुनर्बटुक साधन के तौर पर अपनी परफेक्ट तक पहुँचना है (कास्टर, 'योग और पश्चिमीय मनोविज्ञान' Coaster 'Yoga and Western Psychology' पृ १)।

चेतकनी

हमने ऊपर मनोविज्ञान का यथार्थतः परामर्श किया है और नीचे

मनोविज्ञान और योग

मनोविज्ञान-विषय कुछ ग्रन्थों की सूची भी दी है जिन्हें सेवल उत्तुङ्ग यौगिक विद्यार्थी ही नहीं अपितु कोई भी शोध और लाभ के साथ पढ़ सकता है। अतः हम अन्त में सावधानता की एक टिप्पणी देना अपना परव्य समझते हैं। अपूर्ण विज्ञान ही ज्ञान की एक वरमान गति है। हमारे न्याययित नियम भी बहुधा काम-चलाऊ ग्रापनाये होती हैं और जहाँ वे आज आधारभूत माने जाते हैं वहाँ कल उन्हें हम बिना किन्हीं मताप-अनुताप के तिलाञ्जलि दे सकते हैं। मनोविज्ञान एक बाल-विज्ञान है और अपनी चरमान दशा में भयानक याद-विवादों का शिकार बना हुआ है। अब पाठक को यह परामर्श देना उत्तम होगा कि वह किसी भी सम्मतियों को जन्म न मसल ले और उनपर अनुचित तौर से उत्साह और जोश में न भर जाय।

म्वाध्याय के योग्य कुछ पुस्तकें

- १ McDougall, Character and the Conduct of Life, A Practical Psychology for Every Man (Methuen & Co., London)
- २ K M Bowman, Towards Peace of Mind (George Allen & Unwin)
- ३ Thoulless, The Control of Mind
- ४ Coster, Yoga and Western Psychology (Oxford University Press)
- ५ Coster, Psycho-analysis for Normal People
- ६ Aveling, Directing Mental Energy
- ७ Gordon, The Neurotic Personality (Kegan Paul)
- ८ Gordon, Wholesome Personality

योगविचार

९. C. G. Jung, *Modern Man in Search of a Soul*
१. C. G. Jung, *Psychology and Religion*
- ११ Wolfe, *How to be Happy though Human*
- श्रीभरविन्द के योग-साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ
- १ *Synthese of Yoga* (वार्प पब्लिका नें)
- २ योग के आधार
- ३ योगप्रदीप
- ४ हुमाँट योग और उसके रहस्य
- ५ माता
- ६ चार साधन

पूर्णयोग की साधना

इस लेख का हेतु श्रीअरविन्द के पूर्णयोग के विषय में कोई नयी बात बताना नहीं है, क्योंकि स्वयं श्रीअरविन्द ने जो कुछ लिखा है वह इतना विशद और स्पष्ट है कि उसपर और कुछ लिखा ही नहीं जा सकता, तब हमारा उद्देश्य है इस योग की साधना के प्रधान-प्रधान अंगों को संक्षेप में एक स्थान पर इस प्रकार सजा देना जिससे कि इस योग के जिज्ञासु साधकों को कुछ सहायता मिल सके।

इससे पहले कि हम इस योग की साधना को समझने की चेष्टा करें, हमें यह जान लेना चाहिये कि हमारा आदर्श क्या है, हमारा लक्ष्य क्या है। क्योंकि आदर्श और लक्ष्य के बारे में हमारी दृष्टि जब निश्चिन्त हो जायगी तभी हम अपने आदर्श को चरितार्थ करने के, अपने लक्ष्य पर पहुँचने के साधनों को सम्यक् रूप से जान सकेंगे और जीवन में उनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकेंगे।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस विश्व-ब्रह्माण्ड के आपातदृष्ट रूप के परे एक सद्बस्तु है, एक सत्ता और चेतना है जो भूतमात्र का एक और शाश्वत आत्मा है। इस एक आत्मा में समस्त सत्ताएँ अविभक्त हैं, किन्तु चेतना के एक प्रकार के विच्छेद के कारण, अपने सत्य स्वरूप और सद्बस्तु के अज्ञान के कारण मन, प्राण और शरीर में ये एक दूसरे से पृथक् मालूम होती हैं। एक प्रकार की आंतरिक साधना के द्वारा

योगविचार

भेदात्मक चेतना का इस परचे को हटाया जा सकता है और हम लोगों के अन्दर तथा सबके अन्दर बसनेवाले मगवान् को पाना और पाना जा सकता है। अस्तु, पीछे में हम यह कह सकते हैं कि हमारा बर्बात् श्री श्रीरविन्द का आदर्श है सबके अन्दर बसनेवाले इन मगवान् की जगत् का ज्ञानावबुद्ध रूप में और इसके परे जो यह एक सत्ता और चेतना है यह सत्यस्तु है यह धारणा आत्मा है उसकी मनुष्य के मन प्राण और शरीर में पूर्ण प्रतिष्ठा सीधी-सीधी भाषा में मनुष्य को देवता बनाना मर को ज़रूर करना वह प्रकृति में सन्निधानन्द को अभिव्यक्त करना एक शब्द से मैं कहूँ कि हमारा आदर्श है—विष्य जीवन।

अब हम देखें कि इस आदर्श को अपिष्टार्थ करने के लिये हमारा स्वयं क्या है। श्रीरविन्द न एक स्थान पर यह कहा है कि 'जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं है, बल्कि वह मानव जाति के लिये है' 'इसका उद्देश्य है मनुष्यजाति की मुक्ति' पर बाद में उन्होंने देखा कि उनके इस कथन का मतलब जोय ठीक-ठीक नहीं समझे और उन्होंने कहा कि 'जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं प्रत्युत मगवान् के लिये है' इसलिये इन दोनों वाक्यों का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये यह अच्छा होगा कि हम उनके इन दोनों बचनों को एक करके यह कहूँ कि श्रीरविन्द का उद्योग मनुष्य जाति न मगवान् को पाना और प्रकट करना है। यह कैसे होगा ? किस स्वयं को प्राप्त कर ? श्रीरविन्द की शिक्षा के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या नहीं है वे कहते हैं ब्रह्म सत्य है और जगत् भी सत्य है। न बड़बाबियों का यह मत ही उनको मान्य है कि इस सृष्टि का मूल 'अद्य' या अद्यतत्त्व (Matter) है और आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं। उनके अनुसार 'अद्यतत्त्व' और 'आत्मा' दोनों एक ही हैं और सापेक्ष रूप से हैं। यह सृष्टि एक निवर्तन-निवर्तनशील सृष्टि या यों कहें कि अचरोहण-आरोहणात्मक सृष्टि है। एक अतिरिक्त परब्रह्म पहले

सकल्प करता है 'एकोऽहं बहु स्याम्' मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ और वह त्रिक सच्चिदानन्द के रूप में सत्-चित्-आनन्द लोको में प्रकट होता है। तब विश्वसृष्टि के लिये इस सच्चिदानन्द का एक और लोक में अवतरण होता है जिसे विज्ञानमय लोक या अतिमानस लोक (Supermind) कहते हैं, यहाँ एक सच्चिदानन्द बहु हो जाता है, पर यहाँ बहुत्व में पूर्ण एकत्व रहता है, यहाँ अभी विद्या अर्थात् एक चेतना की ही क्रीड़ा रहती है। अवरोहण-क्रम में इसके बाद का स्तर है अधिमानस (Overmind), यहाँ विद्या और अविद्या (बहुपरक और विभाजनात्मक चेतना) दोनों का खेल आरम्भ हो जाता है और एक आत्मा अनेक पृथक्-पृथक् पुरुषों के रूप में प्रतिभासित होता है। अवरोहण का तीसरा स्तर है अन्तःस्फुरणात्मक मानस (Intuitive mind) जहाँ जीव को अपने सत्य स्वरूप की आन्तरिक झलक मिलती रहती है, फिर है सम्बुद्ध मानस (Illumined mind) जहाँ जीव परमात्मा से पृथक् होते हुए भी सत्य का प्रकाश पाता रहता है, इसके बाद है उच्चतर मन, फिर है मन। मन में विभाजन की प्रधानता होती है। इसके बाद है प्राण जहाँ चेतना का रूप हो जाता है केवलमात्र सवेदन और अन्त में जडत्व की सृष्टि होती है, यहाँ आत्मा, जीव, अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सर्वथा अचेतन्य में प्रवेश कर अपने निवर्तन या यो कहे कि अवरोहण की लीला को समाप्त करता है, जिसका हेतु है स्थूल के अन्दर, जड के अन्दर अपने विशुद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति। तब विवर्तन या यो कहे कि आरोहणक्रम आरम्भ होता है, आत्मा जड से, अचेतना से प्राण में आरोहण करती और फलतः प्राणलोक से प्राण का अवतरण होता है जो जड में लीन चेतना को बाहर प्रकट करता और वनस्पति के रूप में यहाँ प्राण की प्रतिष्ठा होती है। इसके बाद वह मनोमय लोक में आरोहण करती और फलतः मनोमय चेतना का यहाँ अवतरण होता है और पशुजगत् की सृष्टि होती है,

मनोमय चेतना का पूर्ण विकास है चित्तनवर्षी मनुष्य। मनुष्य भी विकसित होता हुआ मन के उच्चतर क्षेत्रों में ऊपर उठता हुआ जब मानस लोक तक पहुँच पाया है पर उस लोक की चेतना को अपनी साधारण चेतना नहीं बना पाया है तथा विज्ञानमय चेतना में वह अभी सुप्त है और इसलिये अपने एकत्वमय सामान्यमय सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है। अतः इस विवर्तनशील सृष्टि का बीजा उदय होना विज्ञान में आरोहण पकड़ उस लोक की चेतना का ब्रह्म के धर्म का इस अवस्था में अवरोहण। इस विज्ञानमय चेतना में आरोहण करना और इसका यही अवतरण करके मनुष्य के मन प्राण और शरीर को इस चेतना के धर्म में स्थापित कर देना इस प्रकार अपने को ले हुए एकत्व को फिर से प्राप्त कर जो जीवन विज्ञानमय लोक में है जो सत्यमय सौख्यमय आनन्दमय और एकत्वमय है, जो असर है असर है उसकी यहाँ इस स्तूल जगत् में प्रतिष्ठा करना दूसरे शब्दों में मानव जाति में मयबान् को पाकर इस जाति को ही असर बना देना—यह है श्रीअरविन्द का लक्ष्य।

तो हमने अपने आदर्श को समझ लिया अपने लक्ष्य को जान लिया। अब हम यह देखें कि यह किस साधना के द्वारा प्राप्त होगा किस प्रकार हम इस महत् और दुर्लभ लक्ष्य तक पहुँचेंगे। यह प्राप्त होगा एक लम्बी आध्यात्मिक या यौनिक साधना के द्वारा। यह क्या है? यह कोई बड़ा हुआ मानसिक आध्यात्मिक ध्यान का कोई निश्चित प्रकार अथवा मन्त्र तन्त्र जप या प्राणायाम नहीं है। इस साधना के प्रधान बंध है बड़ा अभीप्सा त्याग समर्पण और आत्मोद्घाटन और फिर इन बंधों को अपने जीवन का बीता-जायता सत्य बनाने के लिये आवश्यक है अथक धैर्य और अटूट लगन। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'यह बड़ा ही दुर्लभ लक्ष्य और कठिन योगसाधन है बहुतेरों को या प्रायः सभी लोगों को यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य

पूणयोग की माधना

अनभिज्ञ जगत्-नीतना में अज्ञान की जो शक्तिया जमार उठी हुई हैं वे इनके विरुद्ध हैं, इसका होना ही नहीं माननी और इसके होने में बाधा ही डालने का यत्न करनी है और माधक स्वयं भी देवेगा कि उसके मन, प्राण और शरीर इसी प्राप्ति में कितनी जबरदस्त रतानवटे डालते हैं। पर यदि अन्तरात्मा जागी है, हृत्पुरुष की पुकार उठी है और साधक के हृदय में मचाई है, अन्त तक बटे रहने के लिये केन्द्रिक मकल्प है तो यह कठिनाई बहुत कुछ कम हो जाती और उसका पथ अपेक्षया सुगम हो जाता है, यद्यपि माधन-मय की एक-एक इच्छा भूमि को पार करना पड़ता है विरोधी शक्तियों के भीषण नग्राम पर विजय प्राप्त करके ही।

अन्तरात्मा या हृत्पुरुष का यह जागरण और भगवान् के लिये यह पुकार कब उठती है? साधारणतया सभी लोगों में तो हम इसे नहीं देख पाते? बात यह है कि प्रत्येक भूतप्राणी अपने विकास की एक विशिष्ट अवस्था में है और इस विकासक्रम में एक ऐसा स्थल आता है जब कि अचेतना और अवचेतना के अन्धकार में सोया हुआ हमारा हृत्पुरुष जाग उठता है और तब हमको यह आभास होता है कि क्षुद्र वामनाओं को लक्ष्य बनाकर हमारा जो यह अनित्य, असुखी, सीमित पशु-जीवन है इसके पीछे कोई सत्ता, कोई सद्बस्तु, कोई जीवन, कोई आनन्द है जो एक है, नित्य है, अनन्त है, असीम है, अमर है और उसे स्वानुभव से ढूँढ़कर अपने जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। और तब हमें अभीका अशुद्ध भोग, अज्ञान-अन्धकारपूर्ण, अनित्य, अशान्त, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से भरा हुआ जीवन नीरस लगने लगता और हमारे अज्ञानान्धकार को भेद कर प्रकट होती है हृत्पुरुष के यज्ञ की अग्निशिखा, उसकी अभीप्सा प्रकृति की इस आपातदृष्टि गुलामी से मुक्त होने के लिये, अपने सत्य स्वरूप, सत्य जीवन को प्राप्त करने के लिये, आत्मा और परमात्मा का जो विच्छेद हो गया है उसे दूर करने

किन्तु प्रकृति ने जो गहरा पराश डाल रखा है उसे चीरकर बाहर निकल आने के लिये। परन्तु यह शक्य यह आभास जबतक हमारी साधारण अवस्था नहीं बन जाती और हम अपनी साधारण अवस्था में छोड़कर यह देखते हैं कि नहीं यहाँ तो ऐसे एक नित्य अनन्त अमर जीवन का कोई लक्षण नहीं है यहाँ तो सब परिवर्तन विनाश अणान्ति का चारों ओर सूझा घेर रखा है वही हमारा मन हमें बहूना यह सुझाने की चेष्टा करता है कि जिस नित्य और अमर जीवन की तुम्हें लक्ष्मी मिली है वह तो इस संसार से दूर जाकर स्वर्ग उस लोक में प्राप्त किया जा सकता है पर यहाँ इस पार्थिव प्रकृति में उस जीवन को प्राप्त करना तो एक बड़ी कल्पना है और तब हमपर सन्देह उठती और बुद्धि का आश्रय होता है और कुछ देर के लिये हम अपने लक्ष्य को भूल गये से जान पड़ते हैं।

इसलिये जबतक कि हम इन्हीं के प्रभाव से निकल नहीं पाये हैं, जबतक इस अनुभव को सब एक भ्रम के सहारे की आवश्यकता होती किन्तु यह वह भ्रम है जिसका उच्चतम भौतिक विचार तथा विद्या-तम और अधिभौतिक विचार इन्कार नहीं करते बल्कि पुष्टि ही करते हैं। यह भ्रम-रूपी बर्तमान मानवजाति को उसकी माया में सहमत्ता करने के लिये बिदा गया है और यह तकतक उसके साथ रहेगा जबतक कि वह अपने विकास की उस अवस्था को प्राप्त न हो जाय जहाँ भ्रम ज्ञानपूर्व अनुभव में परिवर्तित हो जाती है तथा ज्ञान का बोधित्व उसके कर्मों से सिद्ध होता रहता है। भ्रम हमारी आन्तर सत्ता का गहरा विनाश है जो हमारी वास्तविकता का स्पर्श करता है, यह प्रत्यक्ष विज्ञ है अन्तरात्मा के आगमन का और जीवन में एक नवीन युग के आरम्भ का। भ्रम के विनाशना जप्य और अपाह्न्य है और वह रेव-रेवकर या लवड़ा-लवड़ाकर ही आने लगी है किन्तु भ्रमरूपी बल-वीर्य से मुक्त होकर सावक समर्थ होता है वेवाचिदेव की उत्पत्ति-

पूर्णयोग की गाथना

ताओं को लपने में, जीवन के जन्मिम मृत्यु को उपलब्ध करने में। 'श्रद्धा होनी चाहिये विगुद, निष्कल और निर्दोष। मन और प्राण की ऐसी अहंकारयुक्त श्रद्धा, जो बड़े बनने की आकांक्षा, अभिमान, दम्भ, अहम्मान्यता, प्राण की स्वैरता, व्ययवित्तक अभिलाष और निम्न प्रकृति की क्षुद्र वामनातृप्ति से कलंकित हो उस अव्यगमनाक्षम घूमा-च्छन्न अग्निशिखा के समान है जो ऊपर स्वर्ग की ओर उज्ज्वलित नहीं हो सकती'। सो हमें अपनी श्रद्धा को पद-पद पर देखते रहना होगा, यह देखते रहना होगा कि इस श्रद्धा के पीछे मन और प्राण की कोई वामना-वामना तो नहीं छिपी पड़ी है, कहीं भी कोई जग-सी अगुद्धि या मानव-भूव इस श्रद्धा में घुमी पड़ी हो तो उसे खोज-गोजकर निवारण बाहर करना होगा और भगवान् पर सच्ची श्रद्धा, उनकी दयामयी शक्ति पर पूर्ण भरोसा रखकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। और जब यह श्रद्धा हममें होगी तब कौन है जो मार्ग में हमें अटका सके या भटका सके।

ऐसी श्रद्धा के साथ हम अभीप्सा करते हैं उस जीवन को प्राप्त करने की जिसकी झलक हमें मिल चुकी है, क्योंकि दो शक्तियाँ हैं जिनके मिलन में ही यह कार्य, पार्थिव प्रकृति को रूपान्तरित कर देने जसा यह कठिन कार्य, सम्पन्न हो सकता है, एक है 'हमारी दृढ़ अभीप्सा जो नीचे से आवाहन करती है और दूसरी वह भागवतप्रसादरूपा शक्ति जो ऊपर से उसका उत्तर देती है'। पर चूँकि यह प्रसादरूपा शक्ति केवल प्रकाश और सत्य की स्थिति में ही कार्य करती है, असत्य और अज्ञान की अवस्था में उसका कार्य नहीं होता इसलिये हमें अपनी अभीप्सा को सचाई की कसौटी पर कसकर देख लेना होगा, यह जांच लेना होगा कि यह अभीप्सा केवल भगवान् के लिये है, केवल उस दिव्य जीवन के लिये है जिसकी झलक हमारे अन्दर में बसनेवाले भगवान् ने हमें दिखा दी है। हमें स्पष्ट रूप से यह अनुभव करना होगा कि हमारा उद्देश्य कोई शक्ति

प्राप्त करना शान्ति और स्थिरता की कामना करना नहीं है—इसका यह मतलब नहीं कि शांति के फलस्वरूप हममें अवतरण करती हुई दिव्य शक्ति शान्ति और स्थिरता का हम स्वानत नहीं करेंगे बल्कि चूँकि हमारा उद्देश्य इनमें बाधक निवास करना नहीं बल्कि इनसे मुक्त होकर भगवान् के संवत्स को कार्यान्वित करने के लिये जीवन को स्थापित करना है। इसलिये हमें हम सदैव प्रहृष्ट और आत्मसात् करेंगे अपने ध्येय की पूर्ति के साधन के तौर पर ही। हमें यह अनुमति देना होगा कि हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से मुक्ति प्राप्त करना भी नहीं है—यद्यपि व्यक्तिगत मुक्ति इस साधनक्रम में एक स्तर पर आप ही आप प्राप्त हो जाती है। हमें यह निरीक्षण करना होगा कि क्या हमारे अन्दर भगवान् के लिये सच्ची पुकार है क्या भगवान् ही है जब हमारे जीवन के एकमात्र सत्य और क्या हमारी ऐसी अवस्था हो गयी है कि उनके बिना जब हम रह ही नहीं सकते ? यदि हमारी यह अवस्था है तो फिर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि हमारे अन्दर भगवान् के लिये सच्ची अभीप्सा है। जिस प्रकार सदा हमारी आन्तरिकता का निवास है उसी प्रकार अभीप्सा उसकी शक्ति है जो भगवान् की ओर ऊपर उठ रही है और इसके उत्तर में भगवान् की ओर से जो हमारे लिये उतरता है वही वह प्रथम प्रकाश है जिसकी सहायता से शांति आने लगी है। एक बार यह अभीप्सा यह अभिधिया भगवान् के लिये यह पुकार प्रकट हुई कि फिर हमें इसे सदा जीवनतः स्मर्य और जानूँ बनाये रखना होगा ताकि यह भाव हमारे अन्दर सदा लुप्त नहीं रहे यह अभिधिया उत्तरोत्तर ऊँची से ऊँची उठती रहे। और इसके लिये जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता जो उनके सत्य और अभिप्राय के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के माध्यम से की गयी हो मन में उन्हींका सकल हो। हृदय में उन्हींकी ओर हो प्राण के वे ही जीवन हों। पीतल चेतना और प्रकृति को उन्हींकी ओर उठ

पूर्णयोग की साधना

घाटित और सहजनम्य करने की इच्छा हो। इस प्रकार यदि हम अपनी समस्त क्रियाओं को आप-से-आप होनेवाली पूजा में परिणत कर दें और इसके लिये एक सच्ची और प्रबल अभीप्सा बनाये रहे तो हम दिव्य जीवन में अवश्य विकसित होंगे। पर यदि इस अभीप्सा की आड़ में हम अपनी किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहते हों, यह योग-साधना हम भगवान् के लिये नहीं, बल्कि किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये या शक्ति की प्राप्ति के लिये करना चाहते हों तो माताजी कहती हैं 'तुम इसका (योग का) स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है'।

तो इस अटूट श्रद्धा को, इस दृढ़ अभीप्सा को बनाये रखने के लिये हमें अपने-आप से सचेतन होना होगा, क्योंकि अपनी सत्ता के एक अति तुच्छ भाग से ही अभी हम सचेतन हैं, इसके उच्चतर अंगों से जिनमें हमारी महती दिव्य सभावनायें भरी पड़ी हैं हम अचेतन हैं, 'यह अचेतना ही हमको अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे बाधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तर को अटकाती है। इस अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियाँ हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमको अपना गुलाम बना लेती हैं'। इसलिये हमें अपनी सत्तारूपी यत्र के पुरजे-पुरजे को अलग-अलग देख लेना होगा, विवेक करना होगा, खरे-खोटे की परख करनी होगी। यह देखना होगा कि कौन-सी शक्तियाँ तो ऊपर उठने में हमारी मदद करती हैं और कौनसी शक्तियाँ हमें नीचे की ओर खींचती हैं, हमें सतत सजग रहकर यह देखते रहना होगा कि क्या सत्य है और क्या असत्य, क्या दिव्य है और क्या अदिव्य, फिर एकको सदा स्वीकार करना होगा और दूसरेका अनवरत त्याग। क्योंकि जो घर भगवान् को निवेदित कर दिया गया है उसमें सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अंधकार, समर्पण और स्वार्थ-साधन साथ-साथ रहने नहीं दिये जायेंगे। अतः जो कुछ भी

योगविचार

हमारी यात्रा में बाधक होता हूँ भयवान् के पास पहुँचने से बटकाता मरमाता या उनसे दूर के जाता है उस सबका त्याग। 'त्याग—मरण प्रकृति की सब वृत्तियों का त्याग—मन की माम्यता मत् अभिमत् अभ्यास परिकल्पना इन सबका परिष्कार जिससे कि रिक्त मन में वास्तविक ज्ञान को अबाधित स्थान मिले—प्राणप्रकृति की सारी वासना कामना काङ्क्षा नेवना आवेग स्वार्थपरता अहंकारिता, अहंमयता लोभयता क्षुब्धता ईर्ष्या असूया सत्य के प्रति विद्वेषाचार, इन सबका ऐसा त्याग कि स्थिर, सदा, समर्थ और समर्पित प्राणसत्ता में वास्तविक शक्ति और ज्ञानत्व की ऊपर से बर्षा हो—बेहृषप्रकृति की मूढ़ता संशय प्रसूता अविश्वासिता अन्धता अनस्यता सुषुप्ता मलसता परिकर्षन विमुक्तता तामसिकता इन सबका ऐसा परिचर्जन कि ज्योति शक्ति मानन्द की सतिस्थिरता उत्तरोत्तर निरन्तर अधिकाधिक दिम्ब होनवासी रहे मे मुप्रतिष्ठित हो'। इस प्रकार जब हम अपने मन प्राण और शरीर के सभी दोषों का सपूर्ण त्याग करने में समर्थ होते हैं तब हमारा हृदय हो जाता है स्वच्छ दर्पण जिस दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है भगवान् का सत्य-स्वरूप और इस हृदयमन्दिर में होती है भगवती माता की समीप प्राण-प्रतिष्ठ। ये भगवती माता ही सत् की चिन्मय-शक्ति हैं जगत् की सच्ची है और इनके प्रति ही हमें करना है सम्पूर्ण सर्वा-मीन आत्म-समर्पण।

इस योग का सपूर्ण उद्देश्य यही है कि अपने-आप को हम श्रीभगवान् के हवाले कर दें और भगवती माता के साथ युक्त होकर विज्ञानमय भगवान् की परा ज्योति शक्ति विभाज्यता शान्ति पवित्रता सत् चैतन्य और मानन्द को अपने अन्दर ले आवें। 'इस योग की यह मांग है कि भगवत्सत्य का आविष्कार करने और उसे मूर्तिमान् करने की अभीप्सा में इस जीवन का पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर दिया जाय अन्य किसी भी काम के लिये नहीं'। क्योंकि समर्पण का अर्थ है सत्ता के एक-एक

पूर्णयोग की साधना

अग से अहकार की ग्रन्थि को काट डालना और उसे मुक्त रूप में तथा सपूर्ण भाव से भगवान् के अर्पण कर देना। यह समर्पण ही इस योग की कुजी है। क्योंकि व्यक्तिगत प्रयाम के द्वारा विज्ञानमय चेतना का अवतरण कराना तो असम्भव ही है। यह विज्ञानमय चेतना पृथिवी पर अवतरण करने के लिये स्वतः-प्रेरित है, पर इसे ऐसे आधार चाहिये जो इसको ग्रहण और धारण कर सके। किसी भी आध्यात्मिक मिद्धि के लिये आधार को तैयार करना सदा ही कठिन होता है और जिन्हे हठयोग, राजयोग आदि प्रचलित साधनाओं का कुछ भी अनुभव है वे यह अवश्य जानते होंगे कि बहुतेको का जीवन समाप्त हो जाता है और वे अपने आधार की तैयारी के पास भी नहीं पहुँच पाते। परन्तु आत्म-समर्पण वह साधना है जो इस कार्य को बड़ी ही सुगमता के साथ संपन्न कर देती है। जिस अग को हम वास्तविक रूप से भगवती माता के अर्पण करने में समर्थ हो जाते हैं, वह तब उनका, भगवान् का हो जाता है और अहकार वहासे सर्वथा निकाल बाहर किया जाता है, वहा तब निवास होता है भगवती माता का और तब वह बन जाता है, हमारे क्षुद्र नश्वर बाह्य व्यक्तित्व का व अहकार का नहीं, बल्कि साक्षात् भगवती माता का एक अग। इस प्रकार आज एक और कल दूसरा जब हमारा एक-एक रोम समर्पित हो जायगा भगवती माता को, भगवान् को, तब यह आधार प्रस्तुत हो जायगा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने तथा वहातक पहुँचने के लिये और तब इसमें अवतरण करेगा विज्ञानमय सत्, विज्ञानमय चित्-तपस् और विज्ञानमय आनन्द। तब यह होगा भगवान् का सच्चा प्रतिनिधि, उनकी लीला में एक उन्हीका रूप। इसलिये इस साधना के लिये यह अनिवार्य है कि जो कुछ भी हम हैं और जो कुछ भी हमारे पास है वह सब भगवती माता के अर्पण हो। बहुधा हममें किसी प्रचलित साधन-प्रणाली के प्रति, किसी शास्त्र-वचन के प्रति (जो प्रायः विभिन्न भाष्यकारों के रंग में रंगा हुआ

ही होता है) कोई विषय आसक्ति होती है। वैस-सेवा समाज-सेवा
 वैसे कोई सार्विक प्रेरक होती है। प्राण की कोई महत्वाकांक्षा वासना-
 कामना होती है, मौलिक प्रकृति को कोई सम्यक्, अविविध आत्म-
 परिवर्तित होने की अनिच्छा होती है और तब हमें समर्पण से बाध वैसा
 कर आगता है क्योंकि समर्पण का अर्थ है इन सबका नाश पर यदि
 आत्म-समर्पण हमें सगवान् को अपने सत्य को प्राप्त कर देता हो तो
 इस समय को हमें निर्मूल कर देना होना और हममें की कोई भी चीज
 हमारे अन्दर हो तो उसे जोड़-जोड़कर माता के अर्पण कर देना होना।
 हमें यहाँ वह समझ देना चाहिये कि यह समर्पण का कार्य प्रकृति के
 द्वारा भी हमारे अज्ञान में से हो रहा है। यह साधन जीवन ही प्रकृति
 का यज्ञ है पुरुष के आनन्द के लिये और जिस काम को हम स्वेच्छा से
 नहीं करना चाहते उसे प्रकृति बरबस हमसे कराके ही छोड़ती है। पर
 उसकी यह चाल बीमारी है। योग-साधना इसमें एक वेग के जाती है और
 अनेक ब्रह्मों व अनेक सत्ताधियों में होनेवाले कार्य को एक ही ब्रह्म में
 और कुछ ब्रह्मों के अन्दर ही सम्मिल कर देती है। तब क्यों न हम
 आत्म समर्पणकारी इस अनिवार्य कार्य को सार्व करें? इसीलिये इस
 योग की यह एक धर्म है कि हमारा समर्पण स्वेच्छाकर हो। जो समर्पण
 जो का समोसकर किया गया हो वह ऐसा आत्म-दान नहीं है कि सगवान्
 तक पहुँच सके।

हमारे आत्म-समर्पण की तीन अवस्थायें होती हैं। पहली अवस्था
 में हम अपनेको अपने कर्मों का कर्ता अनुभव करते हैं और उन्हें सगवान्
 के अर्पण करते हैं। इस अवस्था में हमें यह समझना चाहिये कि माता
 की सेवा के लिये मुख्य हम एक व्यक्ति हैं जो माता के लिये ही सारे कर्म
 करता है। इस अवस्था में हमें किसी काम कर्म पर कोई आसक्ति
 नहीं होनी चाहिये कोई अपनी पसन्द नहीं होनी चाहिये तथा किसी
 भी प्रकार की कलहना का सर्वथा अभाव होना चाहिये। हमारा एक-

पूर्णयोग की साधना

मात्र फल हो भगवती माता की प्रसन्नता और एकमात्र पुरस्कार हो भागवत चेतना, स्थिरता, सामर्थ्य और आनन्द की हमारे अन्दर निरन्तर वृद्धि। इसके बाद एक वह समय आता है जब हम यह अनुभव करते हैं कि हम केवल यन्त्र हैं, कर्त्ता नहीं। तब हमारा सम्बन्ध माता के साथ इतना घनिष्ठ हो जाता है कि उनका ध्यान करते ही हमें उनका आदेश प्राप्त होता है और हम यह जान पाते हैं कि हमें कौनसा काम करना है, किस तरह करना है और उसका क्या फल होगा। हम यहाँ तक देख पाते हैं कि माता केवल हमारे कर्मों की प्रेरणा ही नहीं करती, बल्कि ये उन्हींमेंसे आते हैं। हमारी सारी वृत्तियाँ और शक्तियाँ उन्हींकी हैं, हमारे मन, प्राण और शरीर उन्हींके सचेतन यन्त्र हैं, उनकी लीला के पात्र हैं, स्थूल जगत् में उनके प्राकट्य के उपकरण हैं। अन्त में जब हमारा समर्पण पूर्ण हो जाता है तब श्रीअरविन्द कहते हैं कि “तुम भगवती माता के साथ पूर्णतया एकीभूत हो जाओगे और अपने आपको कोई पृथक् पुरुष, यन्त्र, सेवक या कर्मी नहीं पाओगे, बल्कि यह अनुभव करोगे कि तुम सचमुच ही माता के शिशु हो, उन्हींकी चेतना और शक्ति के सनातन अंश हो। सदा ही वे तुम्हारे अन्दर होगी और तुम उनके अन्दर, तुम्हारी यह सहज, स्वाभाविक अनुभूति होगी कि तुम्हारा सब सोचना-समझना, देखना-सुनना और कर्म करना, तुम्हारा श्वास-प्रश्वास और तुम्हारे अंग-प्रत्यंग का हिलना-डोलना भी उन्हींसे होता है, वे ही करती हैं”। यही है आत्म-समर्पण की सिद्धि की चरम अवस्था और जब यह प्राप्त होगी तब हमारा परिचालन करेगी विज्ञानमय शक्ति, विज्ञानमय तेजोराशि, तब हम होंगे भागवत कर्म के दिव्य कर्मी। प्रथम अवस्था में अहंकार ही प्रधान होता है और इसलिये हम अपने को कर्त्ता, दास अनुभव करते हुए अपने कर्मों को अर्पण करते रहते हैं। इस पहली अवस्था से ही दूसरी अवस्था निर्गत होती है, कर्मों का अर्पण करते करते अहंकार क्षीण हो जाता है और हम अपने-

की प्रकृति-भाव से जसम कर पाते और तब सारा कर्म माता के द्वारा सम्पन्न होता रहता है। तीसरी अवस्था में बह्कार का सर्वथा कोप हो जाता है और हम और भगवती माता एक हो जाते हैं। अब न कोई कर्ता है न कोई यन्त्र अब भगवती माता अपने-आपको अनेक रूप में देखती और कर्म करती है।

आत्मोद्घाटन का अर्थ है माता के प्रति अपने-आपको छोड़े रखना क्योंकि इस योग में सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने आपको ईश्वी प्रमाण के किन्ने कोक सज्जते हैं या नहीं। यदि अभीप्सा सच्ची है तथा समस्त विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी अन्तर-चेतना में एक और सकल्प विद्यमान है तो किसी न किसी रूप में आत्मोद्घाटन होया ही। तब हमारे मन हृदय और घटीर की तैयारी की अवस्था के अनुसार इस आत्मोद्घाटन में कुछ कम या अधिक समय लय सकता है। आत्म-समर्पण आत्मोद्घाटन में बहुत सहायक होता है चाक यह पाता है कि उसका समर्पण जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा है जैसे-जैसे उसके द्वार माता के किन्ने खुलते जा रहे हैं और उन द्वारों से वे उसमें प्रवेश कर उसकी प्रकृति का अन्तर साधित कर रही हैं। इसके किन्ने आनन्द है हृत्पुरुष को बाहर से आना और उसे वहीपर रखना। हृत्पुरुष के बाहर आने का अर्थ है हमारे मन प्राण और घटीर का उसके बर्तन हो जाना और उनका बह्कार के स्थान पर इसके द्वारा परिचायित होना और उसके वहीपर रहने का अर्थ है मन प्राण और घटीर पर उसके प्रभुत्व का उभा बने रहना। यह हृत्पुरुष का उद्घाटन तभी होता है जब हम अपनी साधना में विभी हुई प्राणयत वासनाओं से मुक्त होते हैं और सरलता तथा सत्यहृदयता के साथ मातृचरणों में अपने-आपको समर्पित करने में समर्थ होते हैं। हृत्पुरुष हृदयद्वार से उद्घाटित होकर पहले हमारे हृदेसस्थित मगवान् से हमारे साथ अपने अन्तर सम्बन्ध में जो मगवान् है उनसे हमें मित्र

पूर्णयोग की साधना

देता है। यह हृत्पुरुष ही मुख्यतः प्रेम और भक्ति का मूल है और इसके द्वारा हमारा जो ऊर्ध्व की ओर उद्घाटन होता है वह समग्र भगवान् से हमारा सम्बन्ध जोड़ता है और फिर इसी मार्ग से हमारे अन्दर उतरती है दिव्य शान्ति, स्थिरता, पवित्रता और आनन्द।

* प्रायः हम तामसिक निश्चेष्टता को वास्तविक समर्पण समझ लेते हैं। हम यह मान लेने की भूल किया करते हैं कि हमारा समर्पण भी भगवती माता करा देंगी, हमारा मन हमें यह सुझाया करता है कि हम क्या साधना कर सकते हैं, हमारा आत्मोद्घाटन वे ही करा देंगी, हमारे वैयक्तिक प्रयास से क्या हो सकता है, उसकी क्या आवश्यकता है। परन्तु जबतक हमारी निम्न प्रकृति सक्रिय है तबतक माता की क्रिया हमारे अन्दर परदे के भीतर होती है और हमें उसका ठीक-ठीक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, इस काल में, जो एक लम्बा काल होता है, व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता रहती ही है। समर्पण तो हमें ही करना है, मिथ्या और अज्ञान का त्याग भी हमें ही करना है और यह जबतक नहीं हो जाता तबतक सजग रहकर साधना करते रहना भी हमारा ही काम है, यह हो जाने के बाद अवश्य ही हमारी साधना सम्पूर्ण रूप से माताजी अपने हाथों में ले लेती है और हमें व्यक्तिगत रूप से कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर हमारा आधार हो जाता है उनके कार्य का, उनकी ज्योति, शक्ति, शान्ति, स्थिरता, आनन्द के प्रवाह का एक स्रोतमार्ग।

योग-साधना एक लम्बा मार्ग है, इसलिये साधक में जिस गुण की सबसे अधिक आवश्यकता है वह है धैर्य और अनन्य लगन। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में, तबतक जबतक कि हम निम्न प्रकृति के पजे से निकल नहीं पाये हैं ऐसे अवसर आते ही रहते हैं—क्योंकि अभी माता की क्रिया गुप्त रूप से और अन्दर ही अन्दर होती रहती है—कि हमको ऐसा-सा जान पड़ता है कि कुछ भी साधना नहीं हो रही है, कोई

प्रमति नहीं हो रही है। मैं यह समझने लगता हूँ कि 'मे निर्बल हूँ अज्ञानी हूँ अक्षम हूँ मेरे द्वारा मगवान् क्या कर सकेंगे मेरा साधारण इतना व्यग्र है कि इस जीवन में क्या वह दिव्य बन सकेगा ? और हम बचरा उछले हैं। जब ऐसा अवसर आता है तब धैर्य हमारी रक्षा करता और हम कठिनाइयों से मुकाबला करने के योग्य हो जाते हैं। मोक्ष में धैर्य अपरिहार्य है। जो चीज हमें हर अवस्था में अडिम रखती है वह है धैर्य और इसे समस्त कठिनाइयों विस्मयों और बाह्य से दिशाहीन होने वाली विपत्तियों के होते हुए भी बटूट बने रहना होगा। योग-साधना का यह नियम है कि कठिनाई उपस्थित होने पर, उदासी अपने पर हमें धैर्य को बनाये रखना होगा और अपने काम में लगे रहना होगा। क्योंकि हो सकता है कि हमारी भ्रष्टा कमी हित प्राप्ति अमीत्या की अन्विष्टि का कमी काय प्राप्ति आत्म-समर्पण और आत्मोद्घाटन की वृत्ति कभी बीकी पड़ जाय पर यदि हममें धैर्य हो भ्रष्टा हो और हम अपनी साधना में लगे रहें तो ये सब के सब बूने बल के साथ लौट आवेंगे और हम एक नयी सन्ति एक नये बल के साथ साधनमय पर अवसर होंगे।

अस्तु ! हमने अपने आदर्श को पहचाना अपने कर्म को जाना अपनी साधना को और उसके पूरक अंगों को समझा। अब आइये हम भगवद्गीता से यह प्रार्थना करें कि हे मा हम बीसे भी हैं, तेरे हैं, सदा तेरे रहेंगे। ऐसी कृपा कर कि हम तेरे कार्य को साधने के उपयुक्त पात्र बन सकें। हे ब्रह्मात्मनी जननी ऐसा प्रार्थना हो कि मानव जाति अपने अज्ञानावधार से बाहर निकले और तेरा साक्षात्कार करे, मार्ग मनुष्य की पृथिवी ही भगवान् की मन्दिरमयी—ब्रह्मपुटी।

पूर्णयोग-विचार

सबसे पहले हम पूर्णयोग के उन पूज्य आचार्य के चरणकमलो में अपना नमस्कार निवेदन करते हैं जो इस पृथ्वी पर वर्तमान अमरता की सन्तानों के आध्यात्मिक सघ के पिता-माता हैं, जो उस अद्भुत सत्य-ज्योति के पूर्ण विग्रह हैं जिसका स्पर्श ही रूपान्तर है, जिसके साथ एकत्व स्थापित करना ही योग है, जिसकी सेवा करना ही शुद्धिकरण है, जिसका प्रेम ही जीवनी शक्ति है। उन अतिमानव जाति के महामहिम श्रीगुरु के आशीर्वाद से हमारी बुद्धि आलोकित हो और हमारे अन्दर उस सत्य की प्रेरणा हो जो योगयुक्त जीवन प्राप्त करने की साधना करनेवाले साधको के समस्त सन्देहों को दूर कर सके। अब हम प्रश्नोत्तर रूप में विषय को रखते हैं।

प्रश्न—योग है क्या ? आखिर उसका जीवन में उपयोग क्या है ?

उत्तर—योग का अर्थ है भगवान् के साथ एकत्व प्राप्त करने की चेष्टा करना। योग के द्वारा जब मनुष्य आत्मा के साथ, जो आत्मा कि प्रभु की मूर्ति है और विश्वसत्ता का सर्वोच्च शिखर है उसके साथ, निरन्तर आन्तरिक सम्बन्ध बनाये रखता है तब उसका उच्चतर विकास बहुत शीघ्र साधित होता है, भागवत चेतना के अन्दर वह दूसरा जन्म प्राप्त करता है।

प्रश्न—पूर्णयोग क्या है ? अन्य योगों में और उसमें क्या अन्तर है ?

योगविचार

उत्तर—पूर्ययोग वह सर्वानुपूर्व योग है जिसका आदर्श है सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक पूर्णता के बीच सर्वविशयी सामंजस्य स्थापित करना। जीवन को बिना साये ममबान् को प्राप्त करना मुक्ति और पूर्णता को प्राप्त मानव-जीवन के अन्दर भयबान् और प्रकृति का पुनर्मिलन साधित करना। 'पूर्ण' सम्बन्ध ही यह सूचित करता है कि यह योग मनुष्य को पूर्णत्व प्राप्त करण्डा है। अर्थात् वह आत्मा क अन्दर जीवन को पूर्णत्व प्रदान करता है सार्वक बनता है। यह जीवन के किसी भी भाग को चाहे वह शरीर, प्राण या मन किसीसे भी सम्बन्ध रखनेवाला क्यों न हो न ब्रह्मत्व करता है न अस्वीकार करता है और न त्याग करता है। यह जीवन-मयी को साधनत आत्म-व्योति से प्रज्जन्त करता है। यह मनुष्य के अन्दर निहित भयवता के बुद्ध आचार के ऊपर समाज रूपी एक महिमाभिध प्रासाद का निर्माण करता है। वैशान्तिक योनों का उद्देश्य है आत्मा क अन्दर जीवन को छय कर देना परन्तु अरमा में जीवन प्राप्त कराना पूर्णयोग की विशेषता है। पुराने सभी योग प्रायः आत्म-केन्द्रित थे और इहजीवन से उनका कोई छोकार नहीं था वे केवल परलोक से ही सम्बन्ध रखते थे। वे इस गतिशील जगत् को स्वप्न माया और भुगमटीजिका समझकर इससे दूर ही रहे और निराकार ब्रह्म में स्वयममुक्ति और निर्वाण प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहे। उन्होंने समाधि को ही सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया और मन को एकदम स्थिर बनाकर अबधा यों कहें कि मारकर ही शरीर चेतना को पूर्ण रूप से शान्त निरस्तव्य बनाने की चेष्टा की। पुर्ययोग विमेशमूलक बहुकार का तो पूर्ण नाश करना चाहता है परन्तु स्वयम मुक्ति के लिय प्रयास नहीं करता बल्कि विरवात्मा ममबान् क अन्दर नमस्त मानवसमाज को पूर्णत्व प्रदान करना चाहता है। यह व्यक्ति गन या स्वार्थवयी मुक्ति के लिये नहीं बल्कि मानवता के अन्दर ममबान्

पूर्णयोग-विचार

की अभिव्यक्ति के लिये प्रयास करता है। यह 'पूर्ण' इसीलिये है कि यह मनुष्य के अन्दर भगवान् को, नर के अन्दर नारायण को, इस जड़ पृथ्वी के ऊपर स्वर्गीय आनन्द को अभिव्यक्त करता है, यह शरीर-प्राण-मन की वेदी पर आत्मा के सौन्दर्य, सामञ्जस्य, प्रेम, शक्ति और सत्य की मूर्ति को प्रतिष्ठित करता है, यह जीवन के अन्दर आदर्श और वास्तविकता को एक करता है। यह मनुष्य को शरीर, प्राण और मन के अन्दर आवद्ध एक आध्यात्मिक सत्ता समझता है और उसकी चेतना को विस्तृत करके, विकसित करके उसे एक ऐसे उच्च स्तर में उठा ले जाना चाहता है जहाँ वह बहु के अन्दर एकत्व को देख सके, और विश्वचेतना के अन्दर पहुँचकर विश्वचैतन्यमय व्यक्ति बन सके। यह एक सहज आन्तरिक जीवन के द्वारा जीवन के सभी भागों और उन की गतियों को इस प्रकार आत्मभावापन्न बना देता है कि मनुष्य का समूचा जीवन ही एक महान् विश्वव्यापी योग बन जाता है, दिव्य जीवन की एक समष्टि-साधना बन जाता है, बाहर और भीतर आत्मा के विधान द्वारा परिचालित जीवन बन जाता है। यह केवल शुद्धता, निम्न प्रकृति के अहकार और अज्ञान से मुक्ति ही नहीं बल्कि इस पृथ्वी पर ही आत्मा के अन्दर प्रतिष्ठित जीवन का पूर्ण आनन्द प्रदान करता है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि यह जीवन को भगवान्मय, दिव्य बनाता है और पृथ्वी को स्वर्ग, दिव्य धाम में रूपान्तरित करता है।

प्रश्न—क्या अन्य योगों के लिये ऐसा करना सम्भव नहीं था ?

उत्तर—अवतक इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि वास्तव में किसी योगमार्ग ने या धर्म ने सारी मनुष्यजाति को रूपान्तरित कर आत्मामय बना दिया हो, और वास्तव में विश्वात्मा के आधार पर सारे मनुष्य-संघ के जीवन को नये रूप में संघटित किया हो। इस प्रकार की परिपूर्णता तो केवल तभी प्राप्त की जा सकती है जब सत्य-ज्योति के अतिमानस स्तर को आधार बनाया जाय जहाँतक इससे

स्वामिबिचार

पहले कोई भी अस्य योग नहीं पहुँच सका था। वैदिक ऋषिगण ने उस मुनहमे दरवाजे पर बन्का जरूर लगाया था जो अतिमानस स्तर को इके गए है परन्तु उसके कई पनाबिर्मों बाहर अब हम पूर्णयोगी ने ही अपनी महान् साधना के द्वारा उसे सम्पुक्त किया है। अब वह दिन एन इस बात के लिये अबक परिश्रम कर रहे है कि एक ऐसा मार्ग खोजे कि जिससे सारी मनुष्यजाति उस परम सत्य-वैतन्य के स्तर में जासानी से पहुँच सके।

प्रश्न—मैं आपके 'अतिमानस' चम्य को बिस्तुक्त नहीं समझ सका। वह मेरी बुद्धि की पहुँच के बाहर प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—यह बात बिस्तुक्त स्वामिबिच ही है कि जिसने कभी बीनी न लामी हो वह उसकी मिळस को देखक उसके विषय में सुनकर या पढ़कर कुछ समझ न सके। अबका कोई भी जासमी केवल एटलस (नकरो) के द्वारा वेरिस की मय्यता को न जान सके। जो चेतना पत्थर में सोयी हुई है वह पेड़-पत्तों के अन्दर बसती और कुछ-कुछ बुद्ध-मुक्त आदि का शोध प्राप्त करती है। पशुओं में जाकर इन्डियानु भूनि को पाती है और अन्त में मनुष्य के अन्दर विचार करने की योग्यता प्राप्त करती है। एक बीबा चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो विचारबर्मी मनुष्य की मइला को कभी नहीं समझ सकता और न एक पशु के लिये ही उसे समझना संभव है। उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी सीमित अर्द्धप्रकाशित मन-बुद्धि के द्वारा अतिमानस स्तर के आन्वस्यमान प्रकाश की बारसा नहीं कर सकता।

प्रश्न—और कोई बात नहीं। ठन क्या आप यह समझाने की कृपा करेंगे कि पुणने योगमार्ग क्या थे उनका उद्देश्य क्या था उनकी साधना और फल क्या था और इस तरह यह साधिन करके दिक्षार्थने कि आप के पूर्णयोग से इनकी अपेक्षा क्या अधिक लाभ प्राप्त होता है ?

पूर्णयोग-विचार

उत्तर—अवश्य, हम संक्षेप में आपको यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि हठ, राज, कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग जिन्हें वैदान्तिक योग कहते हैं और इनसे भी अधिक समन्वयात्मक जो तान्त्रिक योग है, उन सबके उद्देश्य, साधनपद्धतियाँ और सभाव्यताएँ क्या हैं। ये ही प्रधान योगमार्ग हैं जो विशेषकर प्रचलित हैं। शुद्धि करना, मन को एकाग्र करना, आत्मा में समाहित होना और मुक्ति प्राप्त करना इन सबकी मुख्य साधनक्रिया है।

हठयोगी नाना प्रकार की कष्टसाध्य जटिल शारीरिक प्रक्रियाओं के द्वारा—आसन, वस्ति, धौति, प्राणायाम, बन्ध और मुद्रा आदि के द्वारा अपनी नाडियों को शुद्ध करता है और अपने भौतिक आधार को शक्तिशाली बनाता है जिससे वह विश्वव्यापी प्राण-समुद्र में आनेवाली प्राणशक्तियों को अधिकाधिक धारण कर सके। हठयोग के द्वारा पूर्ण स्वास्थ्य, बल और दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, परन्तु इसके सारे फल इससे कहीं अधिक आसानी से राजयोग और तन्त्रयोग के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं।

राजयोगी आत्मा के साथ एकत्व प्राप्त करने के लिये अष्टांग-प्रक्रिया का अनुसरण करता है। इसके आठ अंग हैं—यम (नैतिक पवित्रता जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के द्वारा प्राप्त होती है), नियम (आत्मसंयम जो आन्तर और बाह्य शुद्धि, संतोष, तपस्या, शास्त्राध्ययन और भगवत्पूजा का फल है), आसन (कोई दृढस्थायी और सरल आसन जैसे पद्मासन या सिद्धासन जो सिर, पीठ और छाती को सीधा रखे), प्राणायाम (८ ३२ १६ के अनुपात से पूरक, कुम्भक और रेचक के द्वारा श्वास-प्रश्वास को संयत करना जिससे भीतरी क्रियात्मिका शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी जागृत हो जाय), प्रत्याहार (चंचल मन को स्थिर करना और इसके द्वारा आत्मनिरीक्षण करना), धारणा (आत्म-केन्द्र में मन को एकाग्र

योगविचार

करना) ध्यान (हृदयगुहा में या सहस्रार में चेतना को ले जाना) समाधि (उच्च चेतना में जाकर लीन हो जाना यह अवस्था ऐसे बहरे ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है जिसमें मन प्रत्यक्षित आत्मा का भोजन बन जाता है)। राजयोग एकाग्रता ध्यान और समाधि आदि आन्तरिक अभियाओं के द्वारा कोई भी शक्ति प्राप्त कर सकता है। राजयोग मन को बंध में करता है और आन्तर राज्य पर बहुमुन अधिकार प्राप्त करता है परन्तु वर्तमान काल में इसका जो रूप है वह समाधि और आत्मसीनता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान कर बाह्य जीवन की उपेक्षा करता है। केवल आन्तरिक साम्राज्य (स्वराज्य) को ही जीतना नहीं बल्कि आन्तरिक चेतना के द्वारा बाह्य साम्राज्य को भी अधिकृत करना (साम्राज्य-सिद्धि) हमारा लक्ष्य है।

कर्म शक्ति और ज्ञानयोग जिन्हें एक साथ विचार्य कहते हैं और जिन्हें ऐसा कि आवश्यक लोग इनकी अलग-अलग साधना करते हैं कमसे कम एक-दूसरे हृदय और बुद्धि का योग भी कह सकते हैं, केवल सीमित फल ही प्रदान करते हैं। मुक्ति परिवर्तनशील प्रकृति के जीवन से मुक्ति प्राप्त करना इनका एक उद्देश्य है। कर्मयोगी भगवान् के प्रति उत्सर्ग का मान रखकर, कर्मों का भगवान् के प्रति अर्पण करके कर्मफल तथा कर्तृत्वाभिमान का त्याग करके मन तथा इच्छाशक्ति को सुद्ध करता है और इस साधना के द्वारा उस नामधारी शक्ति के विषय में सचेतन होता है जो धारे संसार की और व्यक्त-जीवन के धारे विभिन्न कर्मों को स्वतः प्रसूता व्यक्ति प्रकृति के द्वारा परिचालित कर रही है। कर्मयोगी उन परम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करता है जो संसार के स्वामी हैं और इस विश्व-जीवन की सारी छोटी-मोटी बातों को अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा व्यक्ति को अपनी शक्ति का केन्द्र मान बनाकर परिचालित कर रहे हैं। मनुष्य-जीवन के सभी प्रेम सम्बन्धों को सर्वप्रियतम सर्वसुन्दर, सर्वलक्षणमय प्रभु के प्रति निवेदन

पूर्णयोग-विचार

कर उन्हें अत्यन्त हार्दिक प्रेम के साथ पुत्र, माता, सखा, प्रभु या प्रियतम के रूप में पूजता है, जैसे यगोदा, प्रह्लाद, रामकृष्ण, अर्जुन, हनुमान् और राधा आदि ने किया था। इस प्रकार की साधना के द्वारा भक्त विश्वातीत भगवान् के अन्दर लीन हो जाने की चेष्टा करता है। ज्ञानी ध्यान और आत्मनिरीक्षण के द्वारा आत्म-केन्द्र में पहुँचता है, मैं यह नामरूपात्मक जगत् नहीं हूँ, तब मैं कौन हूँ ? मैं वह हूँ, ब्रह्म हूँ, आत्मा हूँ, इस तरह सदा-सर्वदा ज्ञानयोगी विचार करता है और अपने सच्चे स्वरूप को पाता तथा उसीमें निमग्न हो जाता है। इस तरह ये तीनों योग अलग-अलग एक प्रकार के सीमित ही फल देते हैं और मनुष्य को परलोक की ही ओर आकर्षित करते हैं। परन्तु पूर्णयोग में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों योगों का समन्वय किया गया है। इसका ज्ञान इस अर्थ में पूर्ण है कि यह आत्मज्ञान के साथ साथ यह ज्ञान भी प्रदान करता है कि यह क्षर सत्ता, नामरूपात्मक जगत् भागवत चेतना का ही खेल है, ब्रह्म ही आत्मा है और इस नामरूपात्मक जगत् में जो कुछ है वह सब भी ब्रह्म ही है। पूर्णयोग का पूर्ण प्रेम समस्त मानवीय भावावेग, इन्द्रिय-बोध और रसबोध को भागवत स्तर पर उठा ले जाता है और हृदय के प्रेम को विश्वप्रेम के रूप में सर्वभूत की प्रसन्नता के लिए अभिव्यक्त करता है। यह समस्त मनुष्यजाति को भगवान् के अन्दर विद्यमान एक शरीर के रूप में देखता है। पूर्णयोग का पूर्ण कर्म मानवीय मकल्पशक्ति और कर्म को भागवत स्तर पर उठा ले जाता है और व्यक्ति को विश्वकर्म के अन्दर, जिसमें वह भगवान् का हाथ देखता है, निरहकार होकर भाग लेने की योग्यता प्रदान करता है। पूर्णयोग आत्मा और विश्व के अन्दर भगवान् को विराजमान देखता है, प्रत्येक प्राणी के साथ, उसे उस भागवत शक्ति का केन्द्र समझ प्रेम करता है जिसकी ही लीला यह सब कुछ है, और जीवन को विश्वमत्ता के अन्दर निहित भगवान् की एकनिष्ठ पूजा के रूप में परिवर्तित करता है। वह भगवान् को

योगविचार

पानता है सबसे अन्दर उर्द्ध प्रेम बनना है और उनकी विरहव्यापी इच्छाशक्ति के योग के रूप में जीवन यापन करना है।

तब इस सबसे बड़ी अधिक बीरलापून और उदार साधना है और मुख्य समन्वयात्मक है। यह आत्मा को पाने के लिये शक्ति को या सक्ति ब्रह्म विरहात्मिका शक्ति का सबसे अधिक महत्त्व प्रदान करता है। यह मनार को शक्ति की शीला के रूप में देता है। मन्त्रजप आसन प्राणायाम योग जारी रूप में अभिषेक शक्ति की उपमा आदि के द्वारा यह सबसे नीचे के आधारभूत में बराबर छापी हुई विरह-शक्ति का कुण्डलिनी को जगाता है और वद्वज्जप की विद्या के द्वारा एक के बाद एक सभी आप्यात्मिक चर्चों को जोड़ते हुए उसे सहस्रार में ले जाता है। इस साधना के द्वारा मनुष्य अहम प्रभुत्व पूर्णत्व मुक्ति और सहस्रार में शिव और शक्ति के मिलन का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जिस कुण्डलिनी को जगाने के लिये इस सब योगसाधनाओं में इनका अधिक खोड़ा करना पड़ता है वह कुण्डलिनी पूर्वयोग में सहज ही अपने आप बच जाती है। अल्पममर्षन के पूर्व होने पर यह शक्ति जागृत होती है और चैत्य पुष्प के उच्चतम केन्द्र में क्रिया करती है। इस तरह पूर्वयोग को हम वैशान्तिक और तान्त्रिक योग का पूर्व समन्वय कह सकते हैं क्योंकि यह आत्मा के अन्दर भगवान् की अनुभूति प्रदान करता है और प्रकृति को उनकी क्रिया शक्तिका शक्ति समझता है। पुरुष सत् है प्रकृति चित् है और प्रकृति द्वारा पुरुष का अहमपरिपूर्णता प्राप्त करना उद्देश्य है। पूर्वयोग मानव चेतना को भगवान् के अन्दर उठा के जाता है और फिर ब्रह्मसे भगवत्ता का समस्त ऐश्वर्य लेकर मन प्राण और शरीरकपी निम्न स्तरों को ब्रह्मातिष्ठ करने के लिये नीचे उतरता है जिससे समस्त जीवन को यह प्रकृति का योग बना सके। यह वैशान्त की पद्धति से आरम्भ करता है और तन्त्र के उद्देश्य को प्राप्त कर उसके भी परे जाता है।

प्रश्न—अवश्य ही यह एक विगाल और अद्भुत योग है, अब मैं समझ गया कि यह सभी योगों का समन्वय है और उसमें भी अधिक है। अब मुझे इसकी साधना के विषय में कुछ जानने की बड़ी इच्छा होती है। क्या आप थोड़े में इसके साधन-तत्त्व और पद्धति को समझाने की कृपा करेंगे।

उत्तर—हां, बड़ी खुशी के साथ। सुनिये—शुद्ध आत्मोत्सर्ग, सत्ता के प्रत्येक भाग का सरल और पूर्ण आत्मसमर्पण, भगवान् के साथ सचेतन एकत्व, उनके रूपान्तरकारी स्पर्श के प्रति बिना कही कुछ बचाये हुए उन्मुक्तता, आत्यन्तिक प्रेम, दृढ़ विश्वास और भगवदिच्छा द्वारा निर्दिष्ट कर्म में शुद्ध भक्ति, उस इच्छा-शक्ति के प्रति कर्मों, कर्मफलों तथा जो कुछ मनुष्य है और जो कुछ उसके पास है सबको उत्सर्ग करना, रूपान्तर के लिये ज्वलन्त अभीप्सा, अहंकार, अभिमान, द्वेष, कामना-वासना, मिथ्यापन तथा निम्न प्रकृति के समस्त दोषों से मुक्ति, प्राणों की शुद्धि, हृदय का प्रेम और भक्तिभाव, मन की प्रकाशमयी एकाग्रता, शरीर की सद्य आज्ञाकारिता और जागरूकता, प्राणों का सौन्दर्य और सामञ्जस्य, जिस परिस्थिति में भगवदिच्छा ने मनुष्य को रखा हो उसके साथ प्रत्येक कार्य में एकत्व और सामञ्जस्य बनाये रखना—ये ही साधना की प्रधान बातें हैं। योग का तात्पर्य ही है आत्म-प्राप्ति, आत्मपरिपूर्णता, आत्मविस्तार और विश्वात्मक परम देव के अन्दर आत्मा का पूर्ण विकास। अपने आपको भगवान् की चिच्छक्ति श्रीमा के प्रति उन्मुक्त रखो और नमनशील बने रहो। इस चेतना के साथ कि मा की शक्ति तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम केवल उन के एक यन्त्र हो, उनका कार्य करो। कर्मफल की कामना का त्याग करो। भगवान् सब भूतों की आत्मा के रूप में सर्वत्र एकसमान व्याप्त हैं—इस ज्ञान को गभीर प्रेम के साथ युक्त करो। मन के द्वन्द्वों और त्रिगुणों से ऊपर उठो, निम्न प्रकृति पर विजय प्राप्त करो

तथा बादर एकत्र भङ्गा समर्पण अभीप्सा की पवित्रता ज्ञान की निर्मलता सुचेतन प्रेम और भक्ति को दिन-दिन गभीर बनाओ। भगवान् की कृपा-शक्ति तुम्हें अतिमात्र स्तर में उठ के आसानी जहाँ-से ही तुम आरम्भ और अकृतरूप को निस्वात्मिका सत्ता के अन्दर एक साथ मिश्र सकते हो। परन्तु सावधान तुम्हें तथा यह माध रक्षना होना कि योग तुम्हारी व्यक्तिगत गुणों के लिये नहीं है बल्कि इस का उद्देश्य है मनुष्य के अन्दर भगवान् की अभिव्यक्त करना तुम तो सनकी निस्वयत्नी शक्ति भीमा के एक केन्द्र मान हो।

प्रश्न—अच्छा जब मैं इस पूर्वयोग की महत्ता को तो समझ गया इसके महान् उद्देश्य और परिणति को भी समझ गया किन्तु मैं भगवान्, चिन्तकित माँ इत्यादि शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सका। कृपया यह मुझे समझाइये कि वे भगवान् क्या चीज है जिन-के विषय में आप बातें करते हैं? वे साकार हैं या निराकार, सजिव हैं या निष्किय? अगर वे शक्ति हैं तो वे कैसे किया करते हैं?

उत्तर—विश्वमय आत्मा के अन्दर विद्यमान प्रकृति के मोक्ष के स्वामी श्रीभगवान् सच्चिदानन्द है अर्थात् अनन्त सत्ता अनन्त शक्ति अनन्त ज्ञान और स्वात्म्य है। वह सर्वव्यापी सर्ववस्तु है सर्व है निरपेक्ष मापेक्ष सजीव या निर्जीव जो कुछ भी है उसके अन्दर विद्यमान सारवस्तु है। वह एक है जो अपने सृजनकारी आगम्य में अपनी चित्-शक्ति के साथ मिश्रकर बहु हुए है। वह समस्त वस्तुओं के मुख है। उन्हीं शक्ति के प्रभु से सब कुछ आरम्भ होता है उन्हींके अन्दर रहता है और फिर उन्हींमें वापिस लौट जाता है। वह परात्पर विमूर्त सत् निरवासीय निविशेष मुक्त और अक्षर है तथा देश काल और कार्य-कारण के परे है। शपेक्ष के अन्दर निरपेक्ष ससीम के अन्दर असीम मर के अन्दर अमर और प्रकृति के शरीर के अन्दर आत्मा है। वह निस्वात्मा है और आधिष्ठ रूप से

व्यक्ति के अन्दर प्रकट होते हैं। वह अव्यक्त और व्यक्त, निराकार और साकार, निष्क्रिय और सक्रिय, एकमेवाद्वितीय और सर्वव्यापी 'एक' भी है। तत्त्व रूप में वह नाम-रूप के परे हैं, किन्तु इन्हे स्वीकार करने में उनमें कोई भी कमी नहीं आती, स्वर्ण नाना प्रकार के अलंकारों में परिणत होने पर भी स्वर्ण ही रहता है, अपने स्वर्णत्व को खो नहीं देता। विश्व-सत्ता उनकी चेतना-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है जिसके द्वारा वह अपने देवत्व की महिमा को सर्व जीवों में प्रकट करते हैं।

प्रश्न—परन्तु उस निर्विशेष परात्पर को इस नामरूपात्मक जगत् के रूप में अपने को फैला देने की भला क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—अपनी अविच्छेद्य सृजनकारी शक्ति के स्वभाववश वह अपने आपको फैला देता है—स पर्यगात्—और अपने आत्मानन्द की अनन्त गतियों तथा परिवर्तनों का उपभोग करता है। यह समस्त नामरूपात्मक जगत् उसकी सृजनात्मिका शक्ति की लीला है। अनन्त स । की यह अखण्ड शक्ति सीमाहीन देश तथा शाश्वत काल में अपने आपको प्रकट करती है। “यह हमारे समस्त समष्टिगत अहंकार को अतिक्रम करती है, इसकी तुलना में युग-युगान्तर की उत्पत्ति केवल एक क्षण की धूल के समान है, इसके विशाल योगफल के अन्दर सहस्र भी एक नगण्य अंक मात्र है। जब हम यह समझते हुए कार्य करते हैं और विचार करते हैं कि मानो यह विराट् कर्म हमारे अपने लिये है तब यह हमारी सकीर्णता को दया तथा व्यग्यभरी हसी के साथ देखती है।”

प्रश्न—इस शक्ति की क्रिया किस तरह होती है ? किस आश्चर्यमय आवेग के कारण होती है ?

उत्तर—यह शक्ति सत् के अन्दर निहित है और सत् से ही प्रेरणा पाती है। साख्य भी तो यह मानता है कि पुरुष और प्रकृति शाश्वत रूप से एक साथ रहते हैं। मायावादी लोग भी स्वीकार करते हैं कि माया

कार्यतः सनातन है, अवश्य ही अवर्णनीय है। पुरुष सदा के लिये अनुमत्ता भर्ता भोक्ता है सन्ति उसके आनन्द के लिये विरचनीया कण्ठी है।

प्रश्न—क्या माया एक प्रकार का भ्रम नहीं है? काल्पनिक वस्तु या मिथ्यापन नहीं है?

उत्तर—महाशय ! यह विशेषात्मक मन का भ्रम है जो माया को जो कि ब्रह्म की बहुधा विमल करनेवाली शक्ति है मिथ्या बना देता है। यह तो संसार की सृष्टि करनेवाली माँ है, अनन्तगुणसम्पन्ना चित्-शक्ति (अनन्तमुखा चिन्मयी) है। यह विश्वव्यापी शक्ति हमारे अन्दर है, हमारे चारों ओर है और हमारे ऊपर है। पुरुष और प्रकृति ब्रह्म के ही द्विविध भाग है और सदा एक साथ है। यही विश्वमाता है जो साधना को सम्भव बनाती है और सभी सिद्धियाँ प्रदान करती है।

प्रश्न—ऐसी बात है। तब तो माँ की पूज हो पूज हो ! क्या आप कृपा करके यह समझावेंगे कि किस तरह यह माँ हमारी साधना और सिद्धि को सम्भव बनाती है ? किन्-किन् रूपों में यह हमारे सामने प्रकट होती है ?

उत्तर—इस विषय की प्रत्येक बात उस अद्भुत पुस्तक 'माता' में वर्णित है जिसे अतिमानवों के नेता श्रीब्रह्म ने मनुष्यजाति के सामने प्रकट किया है। पूर्णयोग की साधना में साधक को उस मातृशक्ति के प्रति पूर्ण रूप से बिना किसी छर्त के आत्मसमर्पण करना होता है। आत्मसमर्पण चित्तमा सञ्चा और पूर्ण होता है उसनी ही अधिक माता की अतिमानव-ज्योति साधक के अन्दर घटती है और उसकी निम्न प्रकृति की उच्चतर प्रकृति में रूपांतरित करती है। माँ जिस पथ से जिस पद्धति से कार्य करती है इसे अपूर्ण मानव-बुद्धि कभी समझ नहीं सकती। उनका प्रेम और उनकी शक्ति विरह है। उनके लिये कोई भी कार्य असम्भव नहीं है क्योंकि वह बड़ी चित्-शक्ति है जो संसार

पर शासन करती है। वह परात्पर ज्ञान की देवी हैं, शान्त, महत्, ज्योतिर्मय तथा आनन्दमय सत्य की देवी हैं, समस्त वृद्धिमत्ता की खान हैं, माहेश्वरी हैं। वह एक प्रज्वलित शक्ति हैं, अजेय बल हैं, तप की अग्नि हैं, भगवदिच्छाविरोधी शक्तियों को विनष्ट करने में अत्यन्त तीव्र हैं। वह भगवान् की कार्यपूर्ति के लिये युद्ध करती हैं, विजय प्राप्त करती हैं, वह महाकाली हैं। वह आकर्षण, प्रेम, सौन्दर्य, सामञ्जस्य, आत्मप्रसाद और आनन्द की देवी हैं। वह मनोमुग्धकारिणी उल्लासमयी महालक्ष्मी हैं। वह कर्म के दिव्य कौशल की देवी हैं, वह मनुष्य की पूर्णता साधित करने के लिये धीरता और दृढ़ता के साथ अथक परिश्रम करनेवाली हैं, वह महासरस्वती हैं। इस तरह विश्व-माता विश्व-क्रिया को जिसके पीछे स्वयं भगवान् इसके आधार, साक्षी, परिचालक और भोक्ता के रूप में विद्यमान हैं, प्रकाश, शक्ति, सामञ्जस्य और पूर्णता प्रदान करने के लिये चार रूपों में प्रकट होती हैं। यह ससार शक्ति का खेल है जो भगवान् के आनन्द के लिये अभिनीत होता है।

प्रश्न—जय मा की ! उनकी रूपान्तरकारिणी इच्छा-शक्ति के प्रति मेरा सच्चा समर्पण हो ! यहातक तो ठीक है, परन्तु यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि यह भागवती शक्ति इस अनित्य ससार के लिये जो आज है और कल नहीं रहेगा, इतना ध्यान क्यों रखती है ? गीता भी तो यही कहती है कि यह ससार अनित्य और दुःखमय है—अनित्यम् असुखम्। फिर एक महान् देवी शक्ति इस 'कुत्ते की दुम' को, जैसा कि बहुतेरे ज्ञानी पुरुष इसे पुकारते हैं, सीधा करने के लिये अपने समय को क्यों व्यर्थ गवाती है ?

उत्तर—वास्तव में यह सब वाणी की चालवाजी है, ईश्वर और प्रकृति के विषय में हमारी भ्रान्त धारणा है। वास्तव में अगर किसी चीज ने अतिमानस-स्तर की ओर जानेवाले मनुष्य के विकास-क्रम को बाधा पहुँचायी है, उसकी दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा-

कपी कभी को चोट पहुँचायी है, तो यह है मायावाद जो इसी संसार में रहते हुए, इसीजी मिट्टी पर बिचरते हुए मनुष्यों से कहता है कि इस बुद्धिमय स्वप्न से दूर भाग जाओ। वास्तव में यह बिचर सब व्यापक भगवान् का अनन्त बेश और काक के अन्दर आत्मप्रसारण है और व्यक्ति बेशकाक की सीमा के अन्दर उसीका एक-एक केन्द्रित भाव है। बिस्व भावबल कर्म का आधार, साधन क्षेत्र और उपादान है। संसार भगवान् के आत्मलान्ध की एक बसुबिम्बुति है। भावबल स्रष्टृ की सृष्टि स्वप्न नहीं हो सकती। संसार मिथ्या नहीं है यह जबर सनातन रूप से बिचर रहनेवाला नहीं है तो कम से कम बदलता हुआ निरन्तर रहनेवाला है सनातन रूप में बार-बार उत्पन्न होनेवाला है। यह शून्य के अन्दर होनेवाला स्वप्न नहीं है बल्कि आत्मचेतन पुरुष के साक्षर सत्य के अन्दर बिद्यमान दुस्मान सृष्टि है। यह मायावादियों से पहले भी था और उनके बाद भी रहेगा भ्रम को पैदा करनेवाले मन से भी पहले यह था और मन के न रहने पर भी रहेगा। संसार ब्रह्म के बहुरूप का व्यक्त सत्य है जिस तरह ताना प्रकार के बहने सोने के सत्य है बर्तन मिट्टी के और कपड़े रई के सत्य हैं। काक और बेश चेतन-व्यक्ति की अपने ऊपर की गयी क्रिया के ताने और बाने हैं। अतिमानस चेतना के लिये बहुरूप एक स्रष्टृ का बहुविध एकत्व का सनातन आरमोद्घाटन है काक एक मित्य 'वर्तमानता' है बेश एक सविमान्य विस्तार है संसार-सत्ता सन्निधानत्व की बीजा है।

प्रश्न—बहुत अच्छा महाशय ! जो कुछ मेरी आँखों के सामने है उसपर विश्वास करने में आसानी है। इस संसार में भगवान् की इस भौतिक सत्ता में—जैसा कि इस आप पुकारते हैं—में विश्वास रखना और इसके कारण अपना जीवन को समुद्र बनाने तथा विश्वमानात्म बनाने की गुंते प्रेरणा भी मिलेगी। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती

कि जब यह ससार सच्चिदानन्द का खेल है, जैसा कि आप विश्वास दिलाते हैं, तब भला ये अन्तहीन अगणित दुःख-कष्ट और रोग-शोक जो इसे इस तरह लगातार सता रहे हैं, कहासे आये हैं ?

उत्तर—अगर विचार करके देखा जाय तो पता चलेगा कि ससार के सुखों का जोड़ उमके कष्टों में बहुत अधिक होता है। और फिर वास्तव में दुःख और सुख मन की गद्दी चीजें हैं और एक प्रकार से मानसिक रोग हैं, अभ्यासगत हैं, और स्नायविक सत्ता पर अधिकार रखते हैं। जब मन मुक्त, निरहकारी बन जाता है, सर्वभूतों के साथ और विश्व-शक्तियों के खेल तथा प्रकृति के गुप्त उद्देश्य के साथ समस्वर हो जाता है तब समस्त द्वन्द्वों की अधीनता से मनुष्य मुक्त हो जाता है। विश्व-मयीभूत आत्मा के लिये सभी वस्तुओं में रस होता है। हम वस्तुओं की मिठास को पकड़ने में असमर्थ होने के कारण ससार को तीखा अनुभव करते हैं। सहनशीलता के द्वारा और दुःख-सुख में आसक्त अहचेतना के स्थान में आनन्द-चेतना को स्थापित करके जीवन के धक्कों को जीतना चाहिये। मृत्यु, कामना और रक्षा तथा अधिकार के लिये युद्ध—ये विभक्त जीवन के तीन प्रधान अंग हैं। जीवन भूख है और अतएव वह मृत्यु है (अशनाया मृत्यु)। जीवन जीवन-संग्राम में जीवन को निगलता है। प्रकृति जीवन को मुक्त करना चाहती है और व्यक्तिगत अहकार अपने पृथक्त्व की रक्षा करने की चेष्टा करता है। जीवन का उद्देश्य है आनन्द को खोजना। वह आनन्द मन के परे है, आत्म-ज्ञान के अन्दर जीवन के स्वामी के साथ एक होने पर वह प्राप्त होता है और यह एकत्व केवल अतिमानस में आरोहण करके ही स्थापित किया जा सकता है। उससे पहले मनोमय मानव कभी अपने बनाये हुए द्वन्द्व के वधन से अलग नहीं रह सकता।

प्रश्न—अच्छा, मैं समझ गया कि दुःख और दर्द की जज़ीर, जिससे जीवन जकड़ा हुआ है, मानसिक अज्ञान के कारखाने में तैयार होती

है। आप बार-बार अधिमानस या विज्ञान का उल्लेख करते हैं बाकिर यह है क्या चीज? साधारण मन से इसका पार्थक्य क्या है?

सत्तर—विज्ञान अग्रत्यक्त मानव-ज्ञान के विरुद्ध प्रत्यक्ष विरुद्ध ज्ञान है। यह वह सत्य-चेतना है जो सब कुछ जानती सबको पूर्ण बनाती और सबको उत्पन्न करनेवाली है यह वह सोने की पंखीर है जो इस विश्व-जीवन का सञ्चिदानन्द के साथ ओकटी है। यह सक्रिय आत्म-ज्ञान है भाववत ज्ञान की सृष्टिकारिणी सक्ति है, सत्त्व ज्योति है। इसकी सृष्टि जलम्-आक से प्रेरणा पाती है इससे अन्तर अन्तरमा पुनः के साथ अपना अनन्त एकत्व पाता है और 'सो ज्यम्' की ज्यनि करता है। वेद इस विज्ञानको 'भूतम् सत्यम् बृहत्' कहते हैं। श्रीगुरुदेव कहते हैं कि 'मन वस्तुओं के तात्त्विक एकत्व को ग्रहण नहीं कर सकता यह विभक्त कर सकता है मुखा कर सकता है ओक सकता है या बटा सकता है किन्तु इस गणित की सीमा के बाहर नहीं जा सकता और अनन्त सत्य को अभिवृद्ध नहीं कर सकता'। यह अज्ञान से ओतप्रोत है उस मूक अज्ञान से जो निरपेक्ष सत्य को सब वस्तुओं के मूक सत्य को नहीं जानता उस विश्वव्यापी अज्ञान से जो विषयपुनः के वेद-काल के अन्तर होनेवाले परिवर्तन को ही संसार का पूर्ण सत्य समझने की भूक करवा है, उस अज्ञान अज्ञान से जो शिरवात्मा को नहीं जानता विषय चेतना के अन्तर सबके साथ हमारी अनन्त एकता को नहीं जानता हमारे बहुकारमय मन प्राण और घरीर को हमारी सच्ची आत्मा समझता है और अन्य सब चीजों को अनात्मा समझता है उस जीविक अज्ञान से जो काष्ठ के अन्तर हमारे शास्त्र प्रकाश को नहीं समझता उस बौद्धिक अज्ञान से जो हमारे अन्तर विद्यमान पराचेतन अवचेतन और पारिप्रासिक चेतना को नहीं जानता उस स्थूल अज्ञान से जो केवल बाहरी स्थूल और मानसिक

अनुभवो पर तो ध्यान देता है और हमारी सनातन सत्ता के सत्य की अवहेलना करता है, उस व्यावहारिक अज्ञान में जो सासारिक जीवन के वास्तविक सत्य, व्यवस्था और सुखभोग का त्याग करता है। इन अज्ञानों को पार करना और दिव्य ज्ञान के आनन्द को प्राप्त करना ही अमृतत्व कहलाता है। सत्, चित्, आनन्द और विज्ञान ये चेतना के उच्चतर स्तर हैं। मन, प्राण और जडतत्त्व (अन्न) हमारी सत्ता के निम्नतर तत्त्व हैं। भगवान् सत् से अवतरित होते हैं और अपनी चित्-शक्ति के द्वारा सभी-स्तरो में व्याप्त होते हैं। अन्तरात्मा अन्न में ऊपर उठता है और प्राण और मन को विकसित करते हुए तथा अतिमानस की ज्योतिर्मय मध्यस्थता की सहायता से दिव्य सत्ता की ओर अग्रसर होता है। अतिमानस भागवत ज्ञानलोक है जो सभी ससारो को उत्पन्न करता, शासन करता और धारण करता है। मन तर्क-वितर्क करनेवाली विचारशीला बुद्धि, अन्तःप्रेरणा, आवेग, स्मृति, कल्पना और आलोचनात्मक निर्णय के द्वारा कार्य करता है। अतिमानस का ज्ञान प्रत्यक्ष, ज्योतिर्मय और सर्वोच्चिजन्य (intuitive) होता है।

प्रश्न—मैं अब अपने मन के टिमटिमाते हुए दीपक के सामने अतिमानस-रूपी सूर्य की कल्पना कर सकता हूँ। परन्तु मनुष्य किस प्रकार मन को अतिक्रम कर उस ऊँचाई पर पहुँच सकता है ?

उत्तर—ममस्त अहंकारमयी मानसिक धारणाओं को दूर हटाना होगा, ममस्त व्यक्तिगत इच्छाओं को, मानसिक पसंदगियों और प्राणिक मागों को छोड़ना होगा। भागवत शक्ति के प्रति सच्चाई और सच्चे विशुद्ध श्रद्धा-विश्वास के साथ पूर्ण आत्मसमर्पण करना होगा। अपनी सत्ता को भागवत सकल्प-शक्ति के प्रवाहित होने के लिये एक बाधाहीन समतल प्रणालिका बनाना होगा। अपने अन्दर उतरनेवाले प्रकाश और सत्य को स्वीकार करने तथा साथ ही उसके प्रति अपने को उन्मुक्त रखने की इच्छा रखनी होगी। सतत आन्तरिक एकत्व,

समर्पित कम प्राणों की पवित्रता प्रेम की चमत्ता तीव्र अभीप्सा मान्य रिक्त शक्ति समाना और मयबान् के सर्वव्यापकत्व के प्रति सचेतनता— इन बीजा के द्वारा मन को बीजा या सचता है और अपने अन्दर भागवत करवासक्ति का उगारा या सचता है और फिर उसकी शक्ति और श्योति की सहायता से अतिमानस में उठकर वही दिव्य जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—आप जिस रूपान्तर की बात कहते हैं वह क्या बीज है? इस अतिमानस रूपान्तर द्वारा संसार का क्या लाभ हो सकता है? दिव्य जीवन का आशिर क्या मनुष्य है?

उत्तर—मुनिवै रूपान्तर का अर्थ है वर्तमान मनुष्य को दिव्य सत्ता प्रकृति चेतना ज्ञान आनन्द इत्यादि में वरक देना जिसमें वह विरक्त चेतना में मायवत ज्ञान सीम्बर्ब शक्ति एकत्व और आनन्द में आकर आत्मस्वरूप को प्राप्त करे और उपभोग करे, जोड़ में वह कहते हैं कि इसका अर्थ है मानव-जीवन में मयबान् को अभिव्यक्त करना। इस का अर्थ यह है कि हमारा सारा जीवन दिव्यमायापन्न हो जायगा और मयबान् के साथ पूरे श्योरे के साथ पूर्ण रूप से हमारा मोह स्थापित हो जायगा। अतिमानस-बीज (संज्ञान) जो विषुय पूर्ण और स्वभावतः आत्मस्थितिक है सबको मयबान् के रूप में मयबान् के अन्दर अनुभव करता है। अतिमानस-ज्ञान के लिये सभी शब्द मयबान् के शब्द हैं विस्वव्यापी सगीत का एक सामञ्जस्यपूर्ण स्वर है। अतिमानस स्पर्श प्रत्येक वस्तु के अन्दर मयबान् का स्पर्श अनुभव करता है। नेत्रों को अतिमानस-सिद्धि के द्वारा एक नवीन दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जिसके सामने वस्तुओं तथा प्राणियों का अन्तरात्मा दृश्य प्रकट हो जाता है। अतिमानस रूपान्तर प्राप्त को अहमामय बना देता है और इसे आत्मा की सशक्त शक्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है। यह शरीर के अन्दर प्राणिक शक्ति को आनृत करता

पूर्णयोग-विचार

है और शरीर का एक एक अणु आत्मा की ज्योति से उद्भासित हो उठता है। हमारी सारी सत्ता विष्वक्शक्ति का एक सक्रिय कोष बन जाती है। अतिमानस के अन्दर प्रत्येक विचार स्वभावतः स्फुरित ज्ञान, अनुप्रेरणा और दिव्य दर्शन होता है। अतिमानस तादात्म्य प्राप्त कर वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, वस्तुओं के आत्म-सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करके उन्हें जानता है। सर्वांगपूर्ण ज्योति के अन्दर अतिमानस परिपूर्णता ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को एक रूप में देखती है। इसके फलस्वरूप हम समस्त जीवनों के साथ अपने-आपको एक जीवन के रूप में अनुभव करते हैं। हम अपनी वास्तविक आत्मा के साथ, प्रकृति के साथ, भगवान् के साथ एक हो जाते हैं। भगवान् के साथ इस प्रकार एकत्व प्राप्त करना और उस चेतना में जीवन-यापन करना ही क्रमविवर्तन की सर्वोच्च अवस्था है। उस समय मनुष्य ससार को अपने अन्दर और अपनेको ससार के अन्दर, भगवान् को अपने अन्दर और अपनेको भगवान् के अन्दर अनुभव करता है। इसी का नाम दिव्य जीवन है।

प्रश्न—क्या सारी मनुष्यजाति दिव्य जीवन प्राप्त कर सकती है ?
अगर हा, तो किस उपाय से प्राप्त कर सकती है ?

उत्तर—स्वयं भगवान् अपने-आपको मनुष्यता के अन्दर अभिव्यक्त करते हैं और उसे दिव्य बनाते हैं। अगर सारी मनुष्यजाति उनकी शक्ति को उचित ढंग से ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाय तो फिर सभी रूपान्तर को प्राप्त हो सकते हैं। जिसमें ग्रहण करने की क्षमता है वह तो ग्रहण करेगा ही। जो मनुष्य रूपान्तरित हो जाता है वह देवत्व को चारों ओर विकीर्ण करता है और उससे उसके चारों ओर रहनेवाले बहुत से मनुष्य भागवत शक्ति से ओतप्रोत हो जाते हैं। अतिमानस-तत्त्व को जो मनुष्य प्राप्त कर चुका है उसे ही अतिमानव कहते हैं।

योगविचार

प्रश्न—अतिमानव' राज्य से आपका तात्पर्य क्या है ? अतिमानवत्व को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर—अतिमानव उसे कहते हैं जो मानवत्व को पार कर चुका है जो मानवीय सीमाओं को लाँचकर भगवान् के साथ सादृश्य और एकत्व प्राप्त कर चुका है। यही जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। आत्मज्ञान की स्पष्टता अभीप्सा की चमत्ता मन की पवित्रता अपनी सत्ता के सभी कार्यों में आध्यात्मिक चेतना का उपयोग अपने आपकी भागवत शक्ति के हाथों में समर्पित करना इत्यादि बातों की सहायता से अतिमानवत्व या देवमानवत्व को प्राप्त किया जा सकता है। अहंकार से मुक्त हो जाओ अपने-आपकी सहायसीक बनाये रखो उस एक भगवान् के विषय में जो वहाँ जो कुछ है वह सब बने हुए है, सचेतन होकर अपने व्यक्तित्व को विश्वव्यापक बनाओ प्रकृति के तीनों गुणों को अधिकृत कर सदा आत्मा के ज्ञान में निवास करो। आत्मा के अन्दर और विश्व के अन्दर परमात्मा के साथ युक्त होओ। तब तुम सृष्टि मुक्ति पूर्णता तथा सत्ता का अलम्ब प्राप्त कर सकते हो और दिव्य जीवन मापन कर सकते हो। उस समय तुम्हारा सारा जीवन ही योग हो जायगा। यह दिव्य जीवन प्रदान करनेवाला योग यह पूर्वयोग व्यक्ति की सिद्धि में परिणामाप्त नहीं होता बल्कि सारी मनुष्यजाति के समष्टि-जीवन को दिव्य बनाना इसका उद्देश्य है। मनुष्य अतिमनुष्य बनेगा पुरुष देव-पुरुष और नारी मायवत शक्ति की एक ज्योतिषिणा बनेगी पृथ्वी स्वर्गीय ज्ञानरत्न का उपयोग करेगी। इसी आध्यात्मिक अमरिकास की आज मनुष्य को आवश्यकता है। जब पूर्वयोगियों का एक सब इस आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर केवा तब मनुष्य के समष्टि-जीवन के क्पास्तन का महान् कार्य भी संभव होगा। आइय हम सब मनुष्यता के अन्दर भगवान् की अमिष्यक्ति के छिने

पूर्णयोग-विचार

भगवान् के अन्दर एक सद्बुद्ध विश्वात्मक जीवन के लिये अभी-प्सा करे।

कितने ही महापुरुष, नवी, पैगम्बर आये और चले गये। एकमात्र आनन्द के धाम विश्वातीत स्वर्ग को पाने की आशा से कितने ही आचार-विचार के नियम बनाये गये। कितनो ने ही हमारे अदर और पृथ्वी पर सहस्र वर्ष तक के लिये स्वर्गराज्य स्थापित होने की घोषणा की, परन्तु हम देखते हैं कि उनके बाद रह गये सीमित और कठोर धर्ममत, संप्रदाय, एक संप्रदाय में भी अनेक भेद-प्रभेद, आत्ममहत्त्वप्रदर्शन, पारस्परिक घृणा-द्वेष, कटे-छटे देशाचार, स्वार्थ और सकीर्ण सस्कार जिन्होंने शान्ति और सामञ्जस्य को तहस-नहस कर दिया है और मनुष्य के अतिमानवत्व की ओर जानेवाले क्रमविकास को रोक दिया है। सत्य, प्रेम, एकता, पवित्रता और सामञ्जस्य—ये सब बड़े अच्छे गुण हैं, परन्तु जबतक मानवसंघ के वास्तविक जीवन में ये प्रतिष्ठित नहीं होते तबतक ये केवल शब्द मात्र हैं और कुछ भी नहीं। सत्य सच्चे आत्मा के अन्दर उपलब्ध होना चाहिये, प्रेम को आत्मा के अन्दर और विश्व के अन्दर सर्वप्रेममय भगवान् के साथ युक्त होना चाहिये, सामञ्जस्य अन्तरात्मा के अन्दर और विश्व-सत्ता के सौन्दर्य के अन्दर प्रतिष्ठित होना चाहिये, पवित्रता सर्वशुद्ध भगवान् की अभिव्यक्ति होनी चाहिये और हमारे चरित्र में प्रतिफलित होनी चाहिये, आन्तरिक प्रभुत्व होने पर ही बाहरी प्रभुत्व प्रकट होता है। पूर्णयोगी किसी दूर स्वर्ग की ओर अगुलि-निर्देश नहीं करता, उसका उद्देश्य है व्यावहारिक जीवन में अपने आदर्श को परिपूर्ण करना, यहाँ स्वर्ग को उतार लाना, मनुष्यता के अन्दर भगवान् को अभिव्यक्त करना, मनुष्य के समष्टि-जीवन को भगवान् के साथ पूर्णयोगमय बनाना और इसे वह अपने जीवन और साधना के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। स्वयं भागवत आनन्द जीवन-

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

योग-साहित्य में “आत्मसिद्धि-योग” और “विज्ञानयोग” ये दो श्रेष्ठमाहात्म्य श्रीअरविन्द की अपनी (व्यक्तिगत) देन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन हैं। आत्मसिद्धि की व्याख्या मानव और दिव्य पूर्णता के बीच का अन्तर, और साधना के उत्तरोत्तर विकास को सुनिश्चित करने वाले स्तरों का विस्तृत वर्णन ‘महावक्ति’ और ‘महा’ इत्यादि प्रकरणों में विज्ञानी देनेवाली अपाक्षिप्त उद्धान में स्वयं श्रीअरविन्द के योग की अपनी विधिष्टता का परिचय है।

प्रथम श्रेष्ठमाहात्म्य में आत्मसिद्धि के ९ अंग गिनाये गये हैं लेकिन अधिक संक्षिप्त रूप में समग्र पूर्वयोग (पारलब्ध वागदत्त ही है श्रीअरविन्द के योग को सर्वांगीण होम से ‘पूर्वयोग’ नाम से पुकारा जाता है) का चार तत्त्वों में समावेश किया जा सकता है। ज्ञानयोग में इनका निर्देश पाया जाता है। इन चार अङ्गों का विस्तृत विवेचन करना इस लेख का प्रयोजन है।

ये चार अङ्ग हैं, धृति मुक्ति सिद्धि और मुक्ति। हरेक योग पद्धति में ये चारों ही अंग आवश्यक हैं। क्योंकि साधना का उद्देश्य

—
‘अद्वैती ‘आर्च’ पत्रिका में Yoga of Self perfection तथा ‘Supermind’ बीर्बको के अधीन Synthesis of Yoga के अन्तर ही अन्त प्रकाशित हुए थे।

कुछ भी क्यों न हो, मोक्ष की व्याख्या भले ही भिन्न हो, फिर भी प्रत्येक साधनापथ में प्रकृति के किसी एक करण को स्वीकार करके ही मानव आगे बढ़ता है। उदाहरण के लिये कर्म, ज्ञान और भक्तियोग में सकल्पशक्ति (will), बुद्धि और चित्त या हृदय को क्रमशः करण स्वीकृत किया गया है। और मानव प्रकृति के ऐसे ही किसी एक करण की शुद्धि, मुक्ति द्वारा सिद्धि और भुक्ति प्राप्त की जाती है।

सबसे पहले शुद्धि की आवश्यकता होती है। मानव प्रकृति अभी अपूर्ण है, उसके हरेक और सब करण अपूर्ण हैं—अशुद्ध हैं, इसलिये हरेक साधना-प्रणाली में सबसे प्रथम उसमें अपनाये गये करण की शुद्धि आवश्यक हो जाती है। उदाहरण के लिये हठयोग शरीर को अपने करण के रूप में स्वीकार करता है इसलिये इस योग में सर्वप्रथम शारीरिक विशुद्धि जरूरी हो जाती है। अन्य योगों में भी इसी प्रकार होता है।

लेकिन पूर्णयोग में शुद्धि की व्याख्या और ही प्रकार से की गयी है। इसके अतिरिक्त उसमें मानव प्रकृति के किसी एक करण की नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण आधार की शुद्धि करनी होती है। पूर्णयोग के अनुसार आधार का अर्थ है मन, प्राण, शरीर इत्यादि का व्यवस्थित पिण्डी-भूत अस्तित्व जो भगवान् के कार्य करने का 'आधार' है। इससे भी आगे बढ़कर यह शुद्धि केवल अभावात्मक ही नहीं भावात्मक भी होनी चाहिये। इसलिये पूर्णयोग में यह काम अत्यन्त जटिल हो जाता है। बहुत लोग यह प्रश्न करेंगे आखिर इतने बड़े कार्य का प्रारम्भ कहाँ से किया जाय? हठयोग आदि साधनामार्गों के आसन-प्राणायाम या भक्तियोग के भावोन्माद अथवा ज्ञानयोग के ध्यान-धारणा आदि प्रचलित सोपानों का उपयोग क्यों न किया जाय?

प्रचलित योगमार्गों में मुक्ति अथवा सिद्धि का आधार प्रकृति के बने किसी करण पर ही आश्रित है यह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अर्थात् वहाँ साधना की सफलता प्रकृति पर ही आश्रित रहती है। "अमुक

योगविचार

क्या की मुमकिन करेगा और मनुष्यजाति को भगवान् के साथ युक्त हुए एक माध्यात्मिक तथ के अन्दर समन्वित करेगा। पुरुषोत्तम का यही माध्यममय पक्ष है। इस तबीयत युग का सर्वोच्च है जो भगवान् के साथ साक्षात्प्राप्त जीवन।

प्रश्न—अब ज्ञान में कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि इस अद्भुत योग का परिचय क्या होगा ?

उत्तर—स्वयं योगेश्वर की उक्ति बायीं मुनो—‘योग के द्वारा हमारे अन्दर ब्रह्म का जन्म होगा—माध्यात्मिक जीवन के एक बृहत् क्षेत्र भगवान् की विरज्जु सत्ता और अनन्त सत्य का प्रादुर्भाव होगा उस व्यापकत्व के अन्दर मित्र का उदय होगा—ज्योति और प्रेम के प्रभु का उदय होगा जो हमारे विचारों अनुभवों और संकल्पों की क्रियाओं को अपने अन्दर लेकर उन्हें विश्व सामञ्जस्य के अन्दर जोड़ देते हैं और हमारी गति को संचालित तथा हमारे कर्मों को निर्धारित करते हैं। इस विशालता और सामञ्जस्य के द्वारा पुकारे जाने पर हमारे अन्दर अर्चना प्रकट होगी—भगवान् की सत्ता और सर्वनिर्वाहिका प्रभाव साक्षिणी इच्छा की ज्योतिमयी शक्ति आविर्भूत होगी तथा इन तीनों के द्वारा हम ऊपस होये जो भगवान् की विरज्जु आत्मशक्ति तथा सर्वव्यापी प्रसन्नता हैं और जो इस सर्वव्यापक सेवात्मक जीवन के दुस्वप्न को दूर करते हैं तथा अर्चना की शक्ति मित्र के प्रेम और प्रकाश तथा ब्रह्म की एकता के अन्दर समस्त वस्तुओं को विलीन करने हैं।

जहाँ पुरुष रूप में सेवा विवरण करते हैं और स्थिरा शक्ति की ज्योतिर्विज्ञा है जहाँ कम ही तप है और प्रत्येक वस्तु ‘सर्व’ है जहाँ समर्पण और सचेतनता ही एकमात्र विधान है, जहाँ धूमि धामि का स्वर्ग है और जीवन आत्मा के आनन्द का प्रवाह है, जहाँ मृत्यु और लोक मन के उपहास है और काल अमृतत्व की वारा है जहाँ सत्य

पूर्णयोग-विचार

ज्योति जीवन का सूर्य है और पूर्णता जीवन के कर्मों का मुकुट है, उन्ही नवीन स्वर्ग की ओर हम उस भागवत शक्ति के पीछे-पीछे अग्रसर हो जो हमारा पथप्रदर्शन कर रही है। उस सर्वशक्तिमान् भागवत शक्ति की जय हो। जय हो।

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

को इस स्वयसिद्ध शुद्धि को मानने के लिये जोर डाला जाता है। उसके बाद क्रमशः इस शुद्धि को स्वीकार करने और अपनी अशुद्धियों का त्याग करने को उसे बाधित किया जाता है। पुरुष में ऐसी स्वयम्भू शक्ति है कि एक बार उसका साक्षात्कार होने के बाद धीरे धीरे प्रकृति उसके नियमन में स्वयं आती जाती है।

शुद्धि के प्रारम्भ होने का चिह्न है समता। साधक, पुरुष के रूप में प्रकृति की सब क्रियाओं को, द्वन्द्वों को, अविद्या के आक्रमण को और अपने अज्ञान, अविद्या तथा अशुद्धियों को समता की दृष्टि से देखता है, क्योंकि उन सबको वह अपनेसे बाहर अर्थात् प्रकृतिगत अनुभव करता है। साधक की यह समता धीरे धीरे प्रकृति के करणों में स्थापित होती जाती है। वह ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है अशुद्धियाँ भी उतनी ही जल्दी दूर होती जाती हैं। समता के भी अभावात्मक और भावात्मक दो रूप हैं, इन्हे निष्क्रिय और सक्रिय इन दो स्वरूपों द्वारा प्राप्त करना होता है। समता के स्वरूपों में समता, शान्ति, सुख और हास्य अर्थात् आनन्द इन चार का समावेश होता है।*

शुद्धि के अभावात्मक रूप के सिद्ध होने के साथ ही उसका भावात्मक स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। प्रचलित विचार में शुद्धि का अर्थ अशुद्धि का अभाव ही किया जाता है। परन्तु पूर्णयोग में शुद्धि के इस अभावात्मक स्वरूप के अतिरिक्त भावात्मक समर्थतत्त्व को भी प्रकृति में स्थापित करना शुद्धि का आवश्यक भाग माना गया है। संक्षेप में, पूर्णयोग जिस शुद्धि को स्थापित करना चाहता है वह केवल नीति या सदाचार के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाली पाप-रहितता, निर्दोषता अथवा सामर्थ्यहीन श्वेतिमा (सात्त्विकता) नहीं

* 'आत्मसिद्धि-योग' के प्रारम्भिक प्रकरणों में इनका विवेचन किया गया है।

है। ऐसी गृहि प्राप्त करना अपेक्षाकृत सरल है। बुद्धि के उपयोग के द्वारा मानव मन अपने प्राण के आवेगों को प्राण की दृष्टान्तों को अपने बाह्याधार को संयत करके अपने प्राणमय जीवन पर एक प्रकार के मानसिक बुद्धिमत् नैतिक अनुष्ठान की स्थापना कर सकता है। सामान्यतया 'पवित्र' 'गांधी' 'महारमा' माने जानेवाले लोग इसी पद्धति का आश्रय लेते हैं। लेकिन यह गृहि मौलिक नहीं होती। प्राण की अनुष्ठानों का इस प्रकार मन के दबाव से निग्रह मात्र हो जाना है और उसके को परिचाम होते हैं। एक तो प्राण स्वयं उत्पत्तीन होकर बढ़कर कुचला जाता है और अन्त में जीवन को मोसने का व्यक्ति का सामर्थ्य और प्रज्ञा की प्राप्ति नम हो जाती है। ऐसे व्यक्ति और प्रज्ञा में उत्पत्तीन महान् आदर्शों को सिद्ध करने की संकल्पशक्ति से रहित निस्तेज और प्राणमय जीवन में निस्तेज हो जाती है। ऐसे व्यक्ति या प्रज्ञा प्राणमय जीवन की शक्तिवाले व्यक्ति या प्रज्ञा के सामने ठहर नहीं सकती। जीवन में पराजित होकर मानसिक आदर्श की ऊँची उड़ान में और अपने नियमों को पालने में ही उन्हें संतुष्ट रहना पड़ता है। व्यवहार में हार लाकर नैतिक विजय प्राप्त ही की बहुमाना पड़ता है।

वैदिक स्वच्छ या समाद होने का आदर्श एकपक्षीय नहीं है वह तो जीवन के सब क्षेत्रों को स्वीकार करके हरेक पर प्रभुत्व सिद्ध करने का आदर्श है।

मन की शक्ति द्वारा प्राण के निग्रह करने का दूसरा परिचाम यह होता है कि प्राण बचने की जगह सामना करता है और मन को छानने के उपाय बूझकर उसे समझा-बुझाकर अपनी कामना उससे पूरी करवा लेता है। प्राण ऐसा उत्पत्ती है जिसके बिना बि व्यक्ति या प्रज्ञा का काम कभी चल ही नहीं सकता। यही स्पष्ट करता है कि प्राण अपनी मार्गों को किसी न किसी रूप में पेश करके मन को छगता रहता है।

दृष्टान्त देने से यह विचार स्पष्ट हो जायगा। मेरे एक मित्र न चाय या कॉफी कुछ भी न पीने का प्रण किया। कुछ समय के बाद वे गेहूँ को सेककर उसका कॉफी जैसा पेय बनाकर पीने लगे। लेकिन इस-में आश्चर्यजनक कुछ भी न था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि वे मुझे आग्रहपूर्वक समझाने लगे कि उनका यह काम युक्तियुक्त है। मैंने उन्हें दिखाने का प्रयत्न किया कि उनकी वृत्ति का बाह्य स्वरूप जरूर बदल गया है लेकिन प्राण की वृत्ति तो ज्यों की त्यों स्थिर रही है। पर इस प्रयत्न में मुझे सफलता नहीं मिली क्योंकि उनकी बुद्धि ने भी मान लिया था कि प्राण की वृत्तियों को उन्होंने जीत लिया है। मन के घड़े हुए सिद्धान्त कभी यथार्थ रूप में नहीं पाले जा सकते, समझौते की जरूरत उनमें अनिवार्य रूप से आ ही पड़ती है। और एक समय ऐसा आता है कि प्राण मन से भी पूरी तरह बदला ले लेता है। यही कारण है कि पूर्ण प्रेम, पूर्ण न्यायवृत्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता इत्यादि मानसिक आदर्श कभी सिद्ध नहीं हो पाते।

इसका कारण यह है कि मनुष्य का मन अत्यन्त शक्तिशाली करण है, उसमें प्राण का नियंत्रण करने का बल है, प्राण की कामना-वासना को दबाये रखने की उसमें ताकत है, फिर भी एकदो उसमें सम्पूर्ण सत्य प्राप्त करने की क्षमता नहीं है, दूसरे प्राण, शरीर इत्यादि करणों का रूपान्तर करने की, उनमें मौलिक शुद्धि स्थापित करने की सामर्थ्य नहीं है। संक्षेप में इन दोनों दिशाओं में मानव मन सीमित है। इस समस्या का हल यह है कि मन पर अधिकार करने के स्थान पर मन के ऊपर स्थित विज्ञानमय भूमिका या अतिमानस चेतना (Supermind) को प्राप्त कर उसकी शक्ति द्वारा इसका रूपान्तर किया जाय। इसीलिये वेद, उपनिषद्, गीता आदि में मन से परे होने के लिये स्पष्ट रूप से खूब जोर दिया गया मालूम होता है। विज्ञान की भूमिका सत्य भूमिका है, सत्यधर्म की भूमिका है, ज्ञानज्योति की भूमिका है, इसलिये

उसके नियमन में स्वतन्त्र की संभावना ही नहीं रहती। प्राण की वृत्तियाँ के पीछे रहनेवाले सत्य को वह जानता है। हरेक अमूर्त वृत्ति के पीछे कार्य करनेवाले उसका सत्य स्वरूप का उसे ज्ञान होना है। रस सिधे विज्ञान प्रकृति की सब अमूर्तियों के प्रति मन जैसी असहिष्णु वृत्ति नहीं धारण करता। पाप में भी कार्य करते हुए सत्य को वह जानता है। इसलिये वह पाप का भी तिरस्कार नहीं करता। उदाहरण के लीर पर मानव के अन्दर रहनेवाली कार्यवासना का केवल बाह्य स्वरूप ही असत्य है—पापव है। लेकिन उसके पीछे कार्य करते हुए सत्य को विज्ञान जानता है। इसलिये वह उसमें अन्तर्हित सत्य को स्थापित करने असत्य स्वरूप दूर कर सकता है।

इससे पाठक के मन में मन की अभावस्थितिक विनाशक बुद्धि और विज्ञान की आचारमक और सर्वनात्मक बुद्धि का भेद स्पष्ट हुआ होना। मानव मन प्राण को धकाकर कुछक हाकने का मिथ्या या सफल प्रयत्न कर सकता है जब कि विज्ञान उसका सत्य स्थापित करके उस भगिनाथ करता है। उसके असत्य को दूर करके सत्य स्थापित करना है।

आवात्मक बुद्धि से बुद्धि निर्मल स्वेतिमा की बद्ध, बीरवान् आजम् बन जाती है। आवात्मक बुद्धि के कारण बुद्धि चित्त प्राण आदि करने में सामर्थ्य स्थापित होता है। अमूर्तियों केवल दूर होती हो इनका ही नहीं किन्तु आध्यात्मिक जीवन का भी अमूर्त हाकर बुद्धि रूप में उभर आता है। प्रकृति में रहनेवाली लेकिन अकलक अज्ञात पूर्णता भी प्रकट होने लगती है और परिणाम स्वरूप शरीर प्राण चित्त और बुद्धि में विज्ञान के बार बार तत्त्व स्थापित होने लगते हैं। शरीर में महत्त्वबोध बन आता और बारनमामर्थ्य प्राण में पूर्णता प्रसन्नता लगता और मन सामर्थ्य चित्त में सीम्यता आजम् अर्थात् शीघ्रता क्रियाशील भवता

आर नवंप्रेम-मामर्थ्य, बुद्धि में विगुद्धि, प्रकाश विचित्र बोध और 'नवज्ञान-मामर्थ्य'—ये सब प्राथमिक पूर्णता के रूप हैं। दूसरे शब्दों में, उन चार चार तत्त्वों का सग्रह आधार की भावात्मक शुद्धि को सूचित करता है।”

अब मुक्ति के विषय में। वास्तव में देखें तो शुद्धि की भावात्मक स्थापना शुरू होने ही मुक्ति का प्रारम्भ हो जाता है। मुक्ति प्राप्त करनी है लेकिन आत्मा की नहीं, क्योंकि आत्मा तो नित्यमुक्त है, परन्तु मुक्ति प्राप्त करनी है प्रकृति में वद उमवे स्वरूपों की, मुक्ति प्राप्त करनी है अविद्याप्रकृति की।

इस समय हम लोगों में प्रचलित मोक्ष की धारणा और पूणयोग की मुक्ति में बहुत अन्तर है। आजकल का मोक्ष का विचार सामान्य रूप में मध्ययुग में से आया है, उसपर सन्यासवृत्ति और विशिष्ट माया-वादी ज्ञानयोग की गहरी छाप स्पष्ट दिखायी देती है। इस मोक्ष का अर्थ है लयमोक्ष। सन्यासवृत्ति और मायावाद के साम्राज्यवाले मध्ययुग को पार करके उपनिषद्-काल में नजर डालें तो हमें मालूम होगा कि प्राचीन समय में मुक्ति और पूर्णता (सिद्धि) का आदर्श अलग था। ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति दोनों को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, उसमें विज्ञानलोक की प्राप्ति और विज्ञान के धर्म के विषय में भी उल्लेख किया गया है। अन्य उपनिषदों में भी और विशेषकर तैत्तिरीय आदि में इस विषय की विशेष रूप से विवेचना की गयी है।

मुक्ति की अन्तिम अवस्था में साधक को उसके भावात्मक रूप की प्राप्ति, सिद्धि होती है। प्रकृति के कर्ण ज्यो ज्यो अविद्या से मुक्त

“आत्मसिद्धि-योग” के प्रकरणों में इन सबकी विस्तार में विवेचना की गयी है।

होते जाने हे त्यों त्यों उनकी शक्ति बढ़ती जाती है और इसने ब्रह्म रिक्त महता का लोभ हो जाने के बाद साधक को विगुड़ आत्मा—सन्निवृत्तान्त, विराट् आत्मा आदि—का साक्षात्कार होता है। साध ही प्रकृति में भी महान् परिवर्तन आरम्भ हो जाना है। अन्त में साधक में विज्ञान के स्तर की अभिव्यक्ति और स्थिर चित्ता दृढ़ हो जाती है।

भुक्ति का आदर्श संकष्ट उपयोग और बहुत बड़े संकट में तत्त्व मार्ग में स्वीकार किया गया मान्य होता है। अन्य योगपद्धतियों में उसका स्वेच्छापूर्वक त्याग किया गया है। यही नहीं बल्कि उसे (भुक्ति को) साधक के मार्ग में आनेवाले महान् अन्तराय के रूप में विना गया है। अहङ्कारमय कामनाप्रेरित जीवन में रहकर ऐसे भोग को भोगने का प्रयत्न करना निश्चय ही साधक के लिये हानिकारक है। हानि से मतलब है आध्यात्मिक हानि। पर पूर्णयोग में उसे आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि दिव्य पूर्णता का आविर्भाव करने के लिये पूर्णयोग जीवन के सब क्षेत्रों को स्वीकार करता है। और इस पूर्णता के दिव्य होने के कारण इसमें अहङ्कार, कामना या इच्छा के तत्त्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार किया गया है। जीवन में दिव्य पूर्णता का आविर्भाव करना सम्पूर्ण जीवन को आध्यात्मिक शक्ति का क्षेत्र मानकर उसका दिव्य भोग करना यह है भुक्ति का रहस्य। सगवान् जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का कार्य करते हुए भी उसके आनन्द का उपयोग कर रहे हैं, उसी प्रकार दिव्य जीवन—आध्यात्मिक जीवन—के साधक को भी दिव्य कर्मों का उपयोग करना चाहिये। जीवन का क्षेत्र अभी अज्ञानमय अपूर्ण और दुःखमय है इसलिये दिव्य प्रकृति को प्राप्त करनेवाले साधक को उसका त्याग करना चाहिये यह उचित नहीं। जागृत व्यक्तियों का आध्यात्मिक उनके चरित्र में व्यक्त न हो—उनकी प्रकृति द्वारा व्यक्त न हो तो ऐसी दिव्य पूर्णता की प्राप्ति का अर्थ ही क्या है? और यह पूर्णता कैसी? सामान्य महा-

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

पुरुषो में, महान् भक्तो में, साधको और विभूतियों में भी स्वभाव की विशिष्ट शक्ति उनके चरित्र द्वारा व्यक्त होकर सामान्य मानव को पूर्णता की आकांक्षा कराती है, मानव हृदय में दिव्य सभावनाओं के लिये श्रद्धा उत्पन्न करती है और यदि श्रद्धा हो तो उसे पुष्ट करती है।

इस प्रकार पूर्णयोग में जीवन के दिव्य भोग के आदर्श को स्वीकार किया गया है। यहाँ यह फिर से याद दिलाना उचित है कि भोग का अर्थ कामना के बशीभूत होकर, अहता से प्रेरणा पाकर जो अविद्या-मय, वासनाजन्य भोग सामान्य लोग करते हैं वह नहीं है। इस भोग का अर्थ है दिव्य आध्यात्मिक भोग। भगवान् के समान पूर्णयोग का सिद्ध भी व्यक्ति और विराट् दोनों प्रकार के जीवन को स्वीकार करके उनमें भागवती पूर्णता रूपी पुष्प को भगवान् की इच्छा के अनुरूप विकसित करता है और उससे उत्पन्न हुए आनन्द का उपभोग करता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष प्राप्त हो जाय और विज्ञान की भूमिका पर अधिकार हो जाय तथा दिव्य जीवन की मुक्ति भी मिल जाय, लेकिन इन सबका उपयोग क्या है? मानव मन के स्तर पर रहें अथवा विज्ञान की भूमिका को प्राप्त करे इससे क्या हुआ? सबसे पहले तो, प्रभुप्राप्ति लाभालाभ के लिये नहीं की जाती। मानव के अन्तरात्मा की यह ऐसी अनिवार्य आध्यात्मिक भूख है जो लाभालाभ या उपयोगिता के विचार से परे है। दिव्य जीवन का—श्रीकृष्ण की मधुर वसी का—स्वर सुन पड़ते ही वृन्दावन की गोपियों की तरह मानव का अन्तरात्मा—उसमें का चैत्यपुरुष—उसकी खोज में बाहर निकले बिना रह नहीं सकता।

लेकिन इस गूढ़ तत्त्व को एक ओर रखकर केवल बुद्धि द्वारा यत्न करने से भी हमें मालूम होगा कि विज्ञान की भूमिका में भगवान् और उनकी महाशक्ति दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, और मन, प्राण तथा शरीर की भूमिकाओं में उनकी स्थापना होने पर, उनका प्रभाव

पड़ने से भी सब करणों में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है और प्रत्येक का सत्य प्रकट होने लगता है। परिणामतः मानव प्रकृति का प्रत्येक करण मयमान् और महासक्ति को जीवन में आविर्भूत करने का पूर्ण साधन हो जाता है। भुक्ति का अनुभव करने के लिये यह आवश्यक है कि मानव का 'आचार' इस प्रकार का सम्पूर्ण साधन बन जाय।

अब मन की या प्राण की विमूर्छि करके क्या मागक्ष जीवन नहीं प्राप्त किया जा सकता? ऐसा प्रश्न हो सकता है। संक्षेप से इस प्रश्न का उत्तर यह है—जैसेके मन या प्राण को निष्ठता ही विमूर्छि किया जाय तो भी उसके द्वारा सम्पूर्ण मागक्ष जीवन की प्राप्ति असम्भव है। मन प्राण और शरीर अविद्यामय स्थिति के कारण है। उनमें दिव्य ज्ञान का प्रकाश कुछ अक्षों में लाया जा सकता है। उनमें एक प्रकार की परिमित पूर्णता भी लानी जा सकती है परन्तु मागक्ष जीवन के आविर्भाव के लिये तो विज्ञान की भूमिका को प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि प्रभु की महासक्ति विज्ञान की भूमिका को अपने ही वा काम करने के कारण के लिये म प्रवृत्त करती है इसलिये मानव के लिये मानवही पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यह है कि वह मन प्राण और शरीर से परे विज्ञान की भूमिका का प्राप्त करके इन तीनों भूमिकामों में उस महासक्ति के अवतरण की सब गतियों को पूरा करे।

विज्ञान को प्राप्त करने के प्रयत्न में दो अवस्थाएँ आती हैं। प्रथम अवस्था में मानव अपनी दृष्टि करके विज्ञान की ओर अपने अन्तःकरण का खोजकर, उन्मुख होकर, उसकी प्रतीक्षा करता है तथा अपने समस्त अन्तःकरण के एक एक भाग में उस सत्य की प्राप्ति के लिये माव करता है। परन्तु केवल अपनी शक्ति से—बहु मके ही कितनी बड़ी हो—मानव विज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरी अवस्था में मनमान् की

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

महाशक्ति उसकी चेतना को विज्ञान की ऊर्ध्व भूमिका में ले जाकर वहा स्थापित करती है और मानव के 'आधार' के सब करणों को लेकर भगवान् की महाशक्ति उन्हें अपना आविर्भाव करने के उपयुक्त यन्त्र बनाने के लिये उनका रूपान्तर करने लगती है अर्थात् दूसरी भूमिका में वास्तविक रूप में देखे तो मानव कुछ भी नहीं करता परन्तु भगवान् की महाशक्ति सब कार्यों का आरम्भ करती है। हमने ऊपर जिस भुक्ति का वर्णन किया है उसका अर्थ ऐसे ही रूपान्तरित 'आधार' द्वारा जीवन के कार्य का आनन्द लेना है।

पूर्णयोग की सिद्धि किम प्रकार की होगी यह विचारना अभी बाकी है। जो कार्य अभी सिद्ध नहीं हुआ है उसके विषय में अनुमान ही किया जा सकता है। फिर भी कुछ वस्तुओं को निश्चित करने का हम प्रयत्न करेंगे।

सबसे प्रथम पूणयोग के सिद्ध होने पर मानव चैतन्य अपनी वर्तमान उच्च में उच्च भूमिका को पाकर उससे परे की विज्ञानमय भूमिका में स्थित हो जायगा। परिणामस्वरूप भगवान् और उनकी महाशक्ति केवल विचार या श्रद्धा के विषय न रहकर मानवजाति के क्रियात्मक तत्त्व बन जायेंगे। तीसरे, विश्वप्रकृति के जो नियम मानव प्रकृति के अन्दर अब काम कर रहे हैं सम्भव है उनमें भौतिक परिवर्तन हो जाय।

सम्पूर्ण मानवजाति में यह भूमिका स्थापित होगी या नहीं यह भी विचारणीय प्रश्न है। निकट भविष्य में समग्र मानवजाति में यह नवीन भूमिका सक्रिय हो जाय ऐसी सम्भावना कम ही है। परन्तु एक बार थोड़े से मानवों में भी पूर्णयोग सिद्ध हो जाय तो मानवजाति में एक ऐसी शक्ति स्थापित हो जायगी जिसका कि काम निरन्तर चलता रहेगा। यह निश्चित है कि जिन थोड़े बहुत व्यक्तियों में यह भूमिका काम करेगी वे लोग स्थूल अक्षमय और प्राणमय भूमिका के पशु के समान

बहु मानव की अपेक्षा विष्णुकृत और ही तरह की (विभिन्न) भूमिका में अपना वैतन्य चारण करेये इतना ही नहीं मनोमय भूमिका क उन्नततम सिद्धरो में विहार करनेवाले मानव की अपेक्षा भी किसी और प्रकार की भूमिका में वे विचार संकल्पशक्ति (VILL) कार्य इत्यादि का प्रागम्भ करेंगे। इस प्रकार मानवजाति की बोड़ी सत्त्वा में से अपने कार्य का विस्तार करती हुई वह महाशक्ति कर्मण समस्त मानवजाति में इन नयी भूमिकाओं का आविर्भाव कर सकती है। लेकिन यह तो बहुत दूर की बात है।

पूर्वयोग की सिद्धि के परिणामस्वरूप विज्ञान की प्राप्ति होती है, वह हम पहले कह आये हैं। लेकिन मुख्यकोपनिषद् के अनुसार, 'सूर्यस्य हारेण' अर्थात् सूर्य के द्वार से से होकर मन प्राण और शरीर का स्थान नहीं करना है, बल्कि वेदशास्त्र के ऋषियों के समान पूर्वयोग के सिद्ध को अविद्या में स्थित मन प्राण और शरीर के त्रिलोक में विद्या के ज्योतिर्मय सूर्य का साम्राज्य स्थापित करना है अर्थात् विज्ञान की सिद्धि द्वारा व्यक्ति के जीवन में से बहूता कामना इत्यादि अविद्या शक्तियों के कार्य को दूर कर उनके स्थान पर मगवान् और उनकी महाशक्ति के कार्य की स्थापना करनी होती है।

यदि स्वतः अक्षमय भूमिका पर विज्ञान की स्थापना संकल्पना पूर्वक की जा सके तो व्याधि जरा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

विज्ञान की सिद्धि से इसक अतिरिक्त और भी परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं लेकिन उनके उत्प्लेख का यह स्थान नहीं। जगद्गुरु के तौर पर विज्ञान के सूर्यलोक में रहनेवाला सिद्ध पुरण विश्व में सक्रिय विराट् शक्तियों पर प्रबल प्रभाव उत्पन्न करके उनके कार्य द्वारा समस्त विश्व के क्रमिक विकास पर अचूक प्रभाव डाल सकता है। सामान्य व्यक्ति के वैतन्य जीवन को भी ऐसे सिद्ध पुण्य अज्ञात रूप से प्रभावित कर सकते हैं।

श्रीअरविन्द का आत्मसिद्धि-योग

इस प्रकार श्रीअरविन्द के साधनापथ का केन्द्र मनोमय भूमिका से परे विज्ञानमय भूमिका में है और उसके अधिष्ठाता हैं स्वयं भगवान् और स्वयं महाशक्ति उनकी सक्रिय शक्ति है।

इस साधना की प्राथमिक अवस्था है विज्ञान की शक्ति के कार्य के लिये मन, प्राण और शरीर को तैयार करना—यह हम पहले कह आये हैं। इस तैयारी में कुछ तत्त्व अति आवश्यक हैं। पूर्ण-योग की साधना अन्य किसी हेतु के लिये नहीं केवल भगवान् के लिये करने का सकल्प प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अचल रखना चाहिये। इसका अर्थ है “भुझे खालिस सत्य और केवल सत्य चाहिये” ऐसी माग होनी चाहिये। हमें ऐसे सत्य की प्राप्ति हो यह माग समग्र अन्त करणपूर्वक होनी चाहिये। इतनी तैयारी हो तो प्रकृति की अशुद्धि इत्यादि तत्त्व जल्दी या देर में दूर हुए बिना नहीं रहते।

ससार में भागवत जीवन की स्थापना के लिये पूर्णयोग द्वारा किया गया प्रयत्न सफल होगा या नहीं यह प्रश्न बहुत से लोगों के मन में पैदा हो सकता है। पृथ्वी पर सत्य को अवतरित करने का यही एकमात्र प्रयत्न नहीं है। भारतीय प्रजा के मानसशास्त्र के अवलोकन से देखा जा सकता है कि हमारी प्रजा प्रारम्भ से ही ऐसे भगीरथ कार्य के लिये यत्न कर रही है। मानव आत्मा के महाकाव्यभूत वेद में भी ‘अगस्त्य खनमान खनित्रै’—‘सत्यप्राप्ति के लिये कुदाल लेकर सतत श्रम करनेवाले अगस्त्य’ का वर्णन है। ऐसे कठिन प्रयत्न के भविष्य के विषय में क्या कहा जा सकता है? क्योंकि आज भी इस दिव्य सिद्धि का विरोध करनेवाली अविद्या की शक्तियाँ इसे मिथ्या करने का प्रयत्न कर रही हैं। सत्यप्राप्ति के दारुण युद्ध में आर्य और दस्यु, देव और दानव आज भी आपस में जूझ रहे हैं।

मानव इतिहास के युग से भी पहले के अज्ञात समय में जागी हुई सत्य प्राप्त करने की दिव्य आध्यात्मिक उषा, ‘पुराणी देवी युवती’—

के संघर्ष को भी हटाकर मविष्य के मार्ग का निर्धारण करना इस भाषा में अतिशयोक्ति नहीं है।

और एक बार इस दिव्य आध्यात्मिक विज्ञान के सूर्यकोश की प्राप्ति होने के बाद कौन कह सकता है कि उससे भी ऊपर अन्य सिद्धर न सीखते हों ? कौन जाने ? बेर के मुनियों ने तो पाया है—

ब्रह्माणं त्वा सतततो क्व बंधं इव येमिरे ॥१॥

मद् घानो सानुं आच्छद् मूरि नस्पष्ट कर्त्तव्यम् ॥२॥

हे सैरुकों व्यक्तिवाले इन्द्र ! सम्ब्रह्म की दिव्य ऋचा के उपासक सोपान के समान तुझपर कमल अर्पणमग करत है। एक सिद्धर से दूसरे सिद्धर पर ज्यों ज्यों ऋचाओं के वायक बढ़ते हैं त्यों त्यों उन्हें सीख पड़ता है कि अभी तो बहुत सा सिद्ध करने के किये अवशिष्ट है।

अभ्येद मध्यम १ सूक्त १

उसी प्रकार विज्ञान की मूमिका सिद्ध होने के बाद जाने भी 'मूरि कर्त्तव्यम्'—'बहुत सा कार्य (करने को) सीख पड़े तो क्या आश्चर्य ?

गीता में अनासक्ति-योग

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मन्वनुषज्जते ।

सर्वसकल्पसन्त्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ गीता ६।४

जब मनुष्य इन्द्रियभोग्य विषयो में अथवा कर्म में आसक्त नहीं होता और सब प्रकार के सकल्पो का त्याग करता है तभी उसे योगारूढ कहते हैं।

जो मनुष्य योग के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है वह किसी इन्द्रियभोग्य विषय में आसक्त नहीं होता और न किसी कर्म में ही आसक्त होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विषय का ही त्याग कर देता है, कर्म का ही परित्याग करता है, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि वह साधारण मनुष्यों की तरह इन सब बातों में आसक्त नहीं हो जाता और यहापर बस गीता इतना ही कहना चाहती है। साधारण मनुष्य आसक्ति के वश में होता है और इसी कारण उसका चित्त चञ्चल और विक्षुब्ध रहता है—भोग्य वस्तु के सामने आने पर उसे पकड़ने के लिये वह चञ्चल हो उठता है, सर्वदा ही कोई-न-कोई कर्म करने के लिये वह बेचैन रहता है—इस प्रकार सदा चञ्चल और विक्षुब्ध रहने के कारण वह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु योगी सब प्रकार की आसक्ति को त्याग देता है, सब प्रकार के सकल्पो को छोड़ देता है, वह अपने भोग के लिये कोई चीज नहीं चाहता, अपने लिये कोई काम के करने लिये नहीं छटपटाता, इसी कारण

योगविचार

प्राचीन होने पर भी मुक्तती देवी 'चोद्यित्री सुमतीनाम्'—सुमति को प्रेरित करती हुई उषा, आज भी मानव के हृदय में गभीर स्वरूप में जल रही है। यह 'माता देवता अदितेरणीकम्'—देवताओं की माता और अनन्त अक्षिति का स्वस्व 'भूमतावरी'—अनेक सत्त्वों से मुक्त उषा इस महान् प्रयत्न में 'ऋतस्य पन्थाममन्वति साधु'—सत्य के पथ का पथार्थ अनुसरण करके आज भी मानव के अस्मा को प्रेरित कर रही है।

सत्यप्राप्ति का यह महान् प्रयत्न एक यज्ञ है 'अध्वर' है—आज भी विश्व संस्कृति की प्रतीकभूत अग्नि की ऊर्ध्वमुखी शिक्षाये जीवन की बेसी में कही कही जल रही है। पाँचवें ऋष्या में से यह अग्नि अक-कर बुझा देने जगती है मनोमय भूमिका प्राप्त होने पर उसकी ज्वाला नमक उठने की कोशिश करती है। यह अग्निदेव मानव का 'पूरोहित' है वह 'युवा कवि—युवा कवि'—है वह मानव में अचलीय 'देव' है, वह 'अक्षिति' है उसकी शिक्षा के बिना हमारी जीवनवेदी सूनी है उसका बिना आर्य का घर अपवित्र है। मानवता में रहनेवाली इस विश्व सकम्पाग्नि के बिना उसकी सहायता के बिना विद्वत् के किसी भी देव को मानव की आहुति पहुँच नहीं सकती। सत्यप्राप्ति की इस अभीप्सा की अन्तः-अग्नि जागृत होकर, सब दुरितों को असत्य मार्गों को पार कर 'स्व धम—अपने घर की ओर प्रयाण करती है। और मन से ऊपर की भूमिका में स्थित इस अग्नि का उत्पत्तिन्धाम इसका अपना घर यही विज्ञानतत्त्व है यही 'सत्यम् ऋतम् बृहद्'—सत्य ऋत (सम्बन्ध) और अनन्त है।

सत्यप्राप्ति के इस यज्ञ की ओर सत्यप्राप्ति के सती आर्य बना की गता करनेवाले देव अनार्य और दस्युओं के साथ आज भी मुड़ कर रहे हैं। विचारों की विद्युत्वाले दुर्धर्य और प्रतापी परदुग्धों को केकर आज भी इन्द्रदेव मन से ऊपर के स्वर्लोक में से बज्र का आघात कर सत्य

को आवृत करके पड़े हुए वृत्र का नाश करने में आर्य लोगो की सहायता करते हैं।

सत्यप्राप्ति के इस प्रयत्न को वेद में "अध्वर" कहा गया है, वह एक 'यात्रा करता हुआ' गतिमान् यज्ञ है। यह महान् यज्ञ कोई शान्ति-भरी सुरक्षित विधि नहीं है। सम्पूर्ण मार्ग और यज्ञ की सब क्रियायें मुश्किलो से भरी पड़ी हैं। क्षण क्षण में और कदम कदम पर अज्ञान की शक्तियों के साथ आर्य सन्तानो को युद्ध करना पड़ता है।

सोमरस का दिव्य आनन्द इस कार्य को उत्तेजित करना है। प्राण का अश्व इस कार्य को 'घोड़े का सा आवेग' देता है तथा मन की गीए-‘ज्ञानरश्मिरूपी गाये’ आर्यजन को विज्ञान के सूर्यलोक की ओर ले जाती है।

मृत्यु को दूढ़ने में कुशल मरमा पणियो द्वारा छिपाकर वा अज्ञात रखी हुई 'गौ'-गायो के समूह-को और अवचेतना के गाढ अन्धकार में खोये हुए सूर्य को दूढ़ने में इन्द्र और अङ्गिरस को आज भी सहायता दे रही है।

इन्द्र के स्वर्लोक से परे स्थित विज्ञान के सूर्यलोक को जब आर्य सन्तान प्राप्त करती है तब उसमें मित्र, वरुण, भग और अर्यमा ये चार सूर्यशक्तिया प्रकट होती हैं।

चेतना की गति को ऊर्ध्व करके मन से ऊपर स्थित सूर्यलोक की, विज्ञान की, केवल प्राप्ति ही नहीं, परन्तु उस सूर्य को पार्थिव भूमिका पर उतारने का आदर्श भी वैदिक ऋषियो से अज्ञात न था।

वैदिक ऋषियों द्वारा प्रारम्भ किया गया यह भगीरथ प्रयत्न, उपनिषद्द्रष्टा मुनियो द्वारा परिपोषित यह महान् कार्य, अनेक छोटी बड़ी धाराओ को अपने अन्दर समाविष्ट कर, वर्तमान युग को उन सब का समन्वय करके देगा, इतना ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति को मौलिक तत्त्वो का अचूक ज्ञान देकर समस्त विश्व में व्याप्त मस्कृतियों

योगविचार

के सवय को भी हटाकर भविष्य के भाग का निर्धारण करेगा इस भाषा में प्रतिपादित नहीं है।

और एक बार इस दिव्य आध्यात्मिक विज्ञान के मूर्धन्य की प्राप्ति होने के बाद कीज कह सकता है कि उसमें भी ऊपर अन्य विचार न बीजत हो ? कौन जाने ? वेद के मुनियों ने तो याया है—

ब्रह्माय स्वा एतच्छतो जत् बसं इव येमिरे ॥१॥

यत् शानो शानु आसह्य भूरि मस्पज् कर्त्तव्यम् ॥२॥

हे ईश्वरों सन्निवासे इन्द्र ! शय्यब्रह्म की दिव्य श्रुति के उपासक शोपान के समान तुझपर क्यस ऊर्ध्वगमन करते हैं। एक सिद्धर से दूसरे सिद्धर पर ज्यों ज्यों श्रुतिवालों के मार्ग चकते हैं त्यों त्यों उन्हें बीज पड़ता है कि अभी तो बहुत सा सिद्ध करने के किये अवशिष्ट है।

आम्बेह, मस्पज् १ सुकट १

उसी प्रकार विज्ञान की भूमिका सिद्ध होने के बाद जाने भी 'भूरि कर्त्तव्यम्'—'बहुत सा कार्य (करने को) बीज पड़े तो क्या आश्चर्य ?

गीता में अनासक्ति-योग

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मन्व नुपज्जते ।

सर्वसकल्पसन्त्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ गीता ६।४

जब मनुष्य इन्द्रियभोग्य विषयो में अथवा कर्म में आसक्त नहीं होता और सब प्रकार के सकल्पो का त्याग करता है तभी उसे योगारूढ कहते हैं।

जो मनुष्य योग के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है वह किसी इन्द्रियभोग्य विषय में आसक्त नहीं होता और न किसी कर्म में ही आसक्त होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विषय का ही त्याग कर देता है, कर्म का ही परित्याग करता है, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि वह साधारण मनुष्यों की तरह इन सब बातों में आसक्त नहीं हो जाता और यहापर वस गीता इतना ही कहना चाहती है। साधारण मनुष्य आसक्ति के बश में होता है और इसी कारण उसका चित्त चञ्चल और विक्षुब्ध रहता है—भोग्य वस्तु के सामने आने पर उसे पकड़ने के लिये वह चञ्चल हो उठता है, सर्वदा ही कोई-न-कोई कर्म करने के लिये वह बेचैन रहता है—इस प्रकार सदा चञ्चल और विक्षुब्ध रहने के कारण वह आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। परन्तु योगी सब प्रकार की आसक्ति को त्याग देता है, सब प्रकार के सकल्पो को छोड़ देता है, वह अपने भोग के लिये कोई चीज नहीं चाहता, अपने लिये कोई काम के करने लिये नहीं छटपटाता, इसी कारण

वह प्रसन्न रहता है वह सब ही गम्भीर ध्यान में प्रतिष्ठित रहता है और उसीमे ज्ञान परित्यक्त होता है और योग में डूबता प्राप्ति होती है।

यहापर कर्म में आसक्ति का त्याग करने का मतलब यह निकलता है कि योगी वास्तव में कर्म का परित्याग नहीं करता। परन्तु संकर में यह अर्थ नहीं ग्रहण किया है। उनके मतानुसार कर्म का त्याग बिना कोई योगी नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने यहापर 'अनुपपद्यते' शब्द का अर्थ 'आसक्ति' नहीं किया है। गीता के दूसरे सभी व्याख्याकारों ने 'न अनुपपद्यते' का सही और स्वाभाविक अर्थ 'आसक्ति नहीं होता' ही ग्रहण किया है। परन्तु संकर की कुशाघ बुद्धि ने यह चेला कि यह अर्थ ग्रहण करने में अपना मत ही दुर्बल हो जायगा इन किसे उन्होंने इसका एक कपोलकल्पित कृत्रिम अर्थ कर डाला। यह अर्थ करने है कि नानुपपद्यते अनुपपन्न कर्तव्यताबुद्धि न करोति इत्यर्थ। अर्थात् कर्म में किसी कर्तव्यबुद्धि नहीं है, अतएव वो कर्म नहीं करता। परन्तु वास्तव में आसक्ति का अर्थ कर्तव्यबुद्धि नहीं है बल्कि आसक्ति का त्याग कर कर्तव्यबुद्धि से सब कर्म करना ही गीता के मतानुसार सच्चा कर्मयोग है। एक दूसरे स्थान में गीता कहती है—

तस्मादसक्त उच्यते कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरय ॥ ३।१९

इसके अतिरिक्त इसी श्लोक में केवल कर्म में अनुपपन्न का त्याग करने को नहीं कहा गया है बल्कि इन्द्रियमोक्ष विषय में भी अनुपपन्न का त्याग करने को कहा गया है। इन्द्रियविषय में कर्तव्यताबुद्धि का त्याग करने की अद्भुत बात मुनाता निश्चय ही गीता का उद्देश्य नहीं है। अतएव यहापर अनुपपन्न का अर्थ आसक्ति ही समझना होगा—बाह्य विषय या कर्म का त्याग नहीं। इन सब चीजों में आसक्ति का त्याग ही गीता की शिक्षा है।

शकर ने आसक्ति के त्याग और कर्म के त्याग, तथा ससार के त्याग दोनों को एक कहा है, उनके मत में आसक्ति का त्याग करने का अर्थ ही है मसारत्यागी सन्यासी हो जाना । इस तरह शकर ने जो गीता की व्याख्या की है उमीको गीता की वास्तविक व्याख्या मानकर आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों में से बहुत से लोग गीता की शिक्षा के प्रति उदासीन हो गये हैं । उनका कहना है कि गीता के अन्दर कुछ अच्छी बातें होने पर भी वे सब विरोधपूर्ण हैं और मानवसमाज के लिये कल्याणकारी नहीं हैं । अभी हाल में इसी तरह के एक विख्यात लेखक ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि “गीता ग्रन्थ का ईश्वरवाद प्रलोभक होने पर भी उसके भीतर बहुत से विरोधी तत्त्वों का प्रसंग विद्यमान है । वैराग्यवाद, अनासक्तिवाद और सन्यासवाद पूर्णतर और व्यापकतर जीवन के लिये सहायक नहीं हैं । भारत की अधोगति का मूल कारण यह सक्रामक वैराग्यवाद ही है । कामिनीकाचन का त्याग आदि इसीका एक अवश्यम्भावी क्षुद्र अंग मात्र है । तन्त्र में नारी को तथा देवी को ही शक्तिस्थानीया कहा गया है । तान्त्रिक बौद्ध और हिन्दूवाद एक मुहूर्त्त में सारे एशिया को ससारभर में अजेय शक्ति बनाने का दावा करता है । मायावाद और सन्यासवाद के साथ भोग या शक्तिवाद को नहीं युक्त किया जा सकता । विवेकानन्द ने मायावाद का प्रचार किया है—ठाकुर रामकृष्ण ने भी कामिनीकाचन का प्रश्न उपस्थित किया है, अथच कार्यत शक्तिरूपिणी नगना शिवसयुक्ता, तान्त्रिक महादेवी की ही उन्होंने आराधना की है । इस कारण अवश्यम्भावी आत्मविरोध, अस्पष्ट प्रतीति और सत्य की अवगुण्ठित भूर्ति का ध्यान आ उपस्थित हुआ है । कुलार्णवतन्त्र का ‘भोगो योगायते सम्यक्’ और ‘भोक्षायते समार’ जिस अध्यात्मपुरी का द्वार उन्मुक्त करता है उससे बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक इस देश ने किनारा ही काटने की चेष्टा की है ।”

संन्यास में यहाँपर वैराग्य और वनासक्ति को संकर का अनुसरण करते हुए कर्मत्याग-मुक्त संन्यास के साथ एक कर दिया है और इसी कारण उन्हें भीता के अन्तर विरोध लिखा भी पड़ा है—क्योंकि गीता ने वैराग्य और वनासक्ति के अन्तर जिस प्रकार जोर दिया है कर्म के अन्तर भी उसी तरह जोर दिया है—कर्मत्याग करने के प्रति आसक्ति का भी त्याग करने को कहा है—“मा ते सङ्गोऽस्त्यकर्मणि”। इसमें कोई संदिग्ध नहीं कि संकर द्वारा प्रचारित संन्यासक संन्यासवाद भारत की सभोगति की अड़ में मौजूद है परन्तु यह याद रखना चाहिये कि भीता ने जैसे संन्यासवाद का प्रचार नहीं किया है—गीता ने जिस वैराग्य वनासक्ति संन्यास के आदर्श का प्रचार किया है उसने साथ जीवन का या संसार के कर्म का यहाँतक कि कुछ जैसे जोर कर्म का भी विरोध नहीं है—भीता का आदर्श भगवान् यों कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निरासी निर्मेमो भूत्वा युद्धक्षेत्रे विराट्मनः ॥ १३३

यहाँपर भीता सर्व कर्मों का संन्यास करने को कहती है और साथ ही उत्साह के साथ युद्ध करने को भी कहती है। यहाँपर संन्यास का अर्थ कर्मत्याग नहीं है, उसका अर्थ है सब कर्मों को भगवान् में अर्पण करना भगवान् के अर्पण करना। ये कर्त्ता नहीं हैं प्रकृति ही भगवान् के आदेशानुसार मेरे स्वभाव द्वारा सब कर्म करती है—यह उपरक्षि होने पर ही सब कर्म भगवान् के अर्पण करना सम्भव होता है और यही है कर्मीर और पूर्ण भक्ति। इसके अर्थे आवश्यकता है सब प्रकार के अहंकार, कामना-वासना और आसक्ति का त्याग करने की।

पश्चिमी शिक्षा पाये हुए लोग संकर के साथ सहमत हुए हैं, क्योंकि उनके विचार में कामना आसक्ति अहंभाव के न होने पर कर्म हो ही नहीं सकता यहाँतक कि सारा जीवन ही शून्य हो जाता है अथवा आसक्ति आदि का त्याग करना और संसार छोड़कर संन्यासी हो जाना

गीता में अनासक्ति-योग

एक ही बात है। किन्तु गीता ने बार-बार ठीक इसी मत का प्रति-वाद किया है।

पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में पडकर हमारे देश के शिक्षित लोगो ने वासना और आसक्ति के वशवर्ती अहभावापन्न जीवन को ही जीवन समझना सीखा है। यह भी एक जीवन है इसमें सदेह नहीं। परन्तु इसी में जीवन की पूर्णता नहीं है, यह मनुष्य को क्षुद्र तुच्छ सुखभोग के प्रति आकृष्ट कर रखता है, इस जीवन के साथ जरा, व्याधि, मृत्यु, आध्यात्मिक आविर्भावितक आधिदैविक सब प्रकार के दुख इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि भारत के आध्यात्मिक शास्त्र में इस जीवन को मृत्यु ही कहा गया है, मृत्युससारसागरात्। इस जीवन को एकदम छोड़कर ब्रह्म में लीन हो जाना ही सन्यासियो की शिक्षा है। परन्तु आसक्ति का वर्जन कर इसी जीवन को रूपान्तरित करना, इसी क्षुद्र जड मानव शरीर के अन्दर सच्चिदानन्द के अनन्त ज्ञान, शक्ति, प्रेम, आनन्द को प्रकट करना ही मानव जीवन की सच्ची पूर्णता है, मानव जन्म का वास्तविक लक्ष्य है। वेद, उपनिषद् और गीता में हम ऐसे ही पूर्ण अमृत दिव्य जीवन का सकेत पाते हैं। युग-युगान्तर की अभिज्ञता और साधना के द्वारा मनुष्य पृथ्वी पर ऐसे ही दिव्य जीवन को प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत हुआ है और इसीको कार्यन्त सुसिद्ध करना वर्तमान युग में श्रीअरविन्द का महान् जीवन-व्रत है।

इन्द्रियभोग्य विषयो की आसक्ति को छोड़ना ही होगा। अमुक भोग्य विषय मुझे चाहिये ही, इसके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता—इस प्रकार के भाव को ही आसक्ति कहते हैं। यही दुख का मूल है, क्योंकि ससार में हम कौन सी चीज पायेंगे या नहीं पायेंगे यह हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। भगवान् की इच्छा के अनुसार ही ससार के सभी कार्य व्यवस्थित होते हैं। अतएव जो लोग किसी चीज के प्रति आसक्त न होकर भगवान् की इच्छा के साथ अपनी

और उनमें नवीन शक्तियों का विकास होता है, इसी को लक्ष्य करके ही तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—भोगो योगायते सम्यक् । गीता भी कहती है—
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यै विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ २।६४

केवल इन्द्रियभोग्य विषयो की आसक्ति को ही नहीं, वरन् कर्म की आसक्ति को भी छोड़ना होगा। कर्म की आसक्ति छोड़ने का वास्तविक अर्थ क्या है, इसकी धारणा करना आधुनिक मनुष्य के लिये कठिन है, क्योंकि आधुनिक मनुष्य पाश्चात्य भाव से प्रभावित हुआ है, और पाश्चात्य आदर्श है कर्मवाद, Activism, Dynamism । अनवरत अश्रान्त भाव से कर्म करो—वस यही पाश्चान्त्य शिक्षा है। आसक्ति के साथ, आग्रह के साथ कर्म करना ही पाश्चात्यमतानुसार प्रकृत जीवन है। हमारे देश के शिक्षित व्यक्तियों ने भी इसी आदर्श को ग्रहण किया है। और केवल इतना ही नहीं, उनमें से बहुतेरो ने गीता के भीतर से भी यही अर्थ प्रकट किया है। उनके मतानुसार गीता ने पाश्चात्य कर्मवाद या Activism की ही शिक्षा दी है। उनके मत में गीता ने जो अनासक्ति की बात कही है वह है कर्मफल की आसक्ति का त्याग, Duty for the sake of duty । महात्मा गांधी ने अपने गीताभाष्य में गीता की अनासक्ति की यही व्याख्या दी है और गीता के योग को 'अनासक्तियोग' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने लिखा है, "जो मनुष्य परिणाम को ध्यान में रखकर कार्य करता है वह बहुत बार कर्म और कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता है। उसके भीतर अधीरता आती है, उसके कारण वह क्रोध के वशीभूत होता है और फिर जो नहीं करना चाहिये वही करता है। फलासक्ति के ऐसे कटु परिणाम से गीताकार ने अनासक्ति अर्थात् कर्म-फल के त्याग का सिद्धान्त प्रकट कर अत्यन्त चित्ताकर्षक भाषा में उसे जगत् के सामने उपस्थित किया है।"

इसमें कोई संशय नहीं कि बीता ने कर्मफल के त्याग की शिक्षा दी है। गीता ने कहा है—‘कर्मव्योपाधिभारस्ते मा फलेषु कदाचन’। किन्तु साधारणतया लोग जो यह समझते हैं कि यही गीता का महावाक्य है, यह वास्तव में ठीक नहीं है, और बीता की अनासक्ति केवल कर्मफल के प्रति ही अनासक्ति नहीं है, बल्कि वह और भी गम्भीर और व्यापक है। बीता ने जो यह कहा है कि ‘कर्म में तुम्हारा अभिचार है’ वह बात पारश्चात्यभाषाओं में के लिये बहुत आवश्यक होने पर भी यही बीता की चरम भाषा नहीं है। यह तो केवल बीता के कर्मयोग की प्रथम अवस्था के लिये उपयोगी उपदेश है। अग्रे साधक को इस अवस्था के परे उठना होगा, यह अनुभव करना होगा कि वास्तव में कर्म में उसका अभिचार नहीं है। ‘मैं कर्म करता हूँ’—यह भावना अज्ञान से उत्पन्न होती है। प्रकृति ही सत्य आदि गुणों के द्वारा हमारे सभी कर्मों को करती है। जब इस सत्य की उपलब्धि होती है तब केवल कर्म-फल से ही नहीं बल्कि कर्म से भी आसक्ति जाती जाती है। तभी साधक वास्तव में मुक्त योगावस्थ होता है। उस अवस्था में भी उसके भीतर प्रकृति का कर्म जारी रह सकता है और जारी रहता है परन्तु वह कर्म किसी प्रकार की भी प्रतिक्रिया या बन्धन की सृष्टि नहीं करता अतएव उस समय कर्मत्याग की आवश्यकता या सार्थकता भी नहीं रहती। अपनी कोई आवश्यकता न होने पर भी मुक्त पुरुष जगत् के हित के लिये लोकसंग्रह के लिये आवश्यक कर्तव्य कर्म को सुचारु रूप में ही सम्पन्न किया करते हैं। अर्थात् मुक्त स्थायी भाव से वे अपनी प्रकृति को उन कर्मों को करने की अनुमति दिया करते हैं। प्रकृति के द्वारा चालित होकर वे कर्म में किष्ट नहीं हो जाते। यही कर्म में अनासक्ति है।

परन्तु धरकर ने कर्म की आसक्ति का त्याग करने का सर्व एकदम सब प्रकार के कर्मों का त्याग ही समझा है। उनके मत में सर्वकर्म-त्यागी संन्यासी ही सच्चा योगावस्थ है। आधुनिक अनुसंधानों की

इस शिक्षा को नहीं ग्रहण कर पाते, कर्म उन्हें चाहिये ही, इसी कारण वे कहते हैं कि शक्य का अद्वैतवाद महान् होने पर भी उनका सन्यासवाद वर्जनीय है। वे देखते हैं कि एक को ग्रहण करने से दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ता है, अन्यथा सगति नहीं रहती। महात्मा गांधी ने अपने गीताभाष्य में इस समस्या का यह समाधान किया है कि सब कर्म त्याज्य नहीं है, बल्कि जो कर्म आसक्ति के बिना नहीं हो सकते वे ही सर्वथा त्याज्य हैं। उनके मत में युद्ध, हिंसा, रक्तपात आदि कार्य आसक्ति के बिना नहीं हो सकते, अतएव इन सब कर्मों का त्याग करने की ही शिक्षा गीता देती है। परन्तु गीता ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि अनामक्त होकर हत्या की जा सकती है। गीता ने भी अहिंसा की शिक्षा दी है—परन्तु वह भीतरी, बाहरी नहीं—अनासक्ति के साथ जो युद्ध किया जाता है, हत्या की जाती है वह वास्तव में हिंसा नहीं, अहिंसा ही है—

यस्य नादृक्तो भावो बुद्धि र्यस्य न लिप्यते ।

हत्वापि स इमाल्लोकां हन्ति न निवध्यते ॥ १८।१७

गीता ने बाह्य युद्ध का भी इतने स्पष्ट रूप में उपदेश दिया है कि अहिंसावादी महात्मा गांधी भी उसे अस्वीकार नहीं कर सके हैं। तब उन्होंने कहा है कि वह तो उस समय की बात थी और उस समय की अवस्थानुसार कही गयी है। पर महात्माजी की ४० वर्ष की व्यक्तिगत अभिज्ञता यह है कि अनामक्त और कर्मफलत्यागी होने के लिये युद्ध जैसे घोर प्रचण्ड कर्म का त्याग करना ही होगा। गीताकार से मतभेद दिखाते हुए उन्होंने कहा है—“कवि सब प्रकार के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त जगत् के सामने रखते हैं। इसी कारण यह बात नहीं कही जा सकती कि उन्होंने स्वयं सब समय अपना महत्त्व सपूर्ण रूप से जाना है अथवा जानने के बाद उसे भाषा में पूर्णरूप से व्यक्त किया है। इसी में काव्य और कवि की महिमा है। इसीलिये गीता के महा-

शस्त्र का धर्म मुन-मुन में बरत रहा है और विस्तृत हो रहा है।

परन्तु वास्तव में नीताचार में कोई भूल नहीं की है। यह हिन्दू धर्म की प्राचीन शिक्षा है कि युद्ध मनुष्य का धर्म हो सकता है। वैदिक युग से ही युद्ध को क्षत्रियधर्म कहा गया है। युद्धे चाप्यपलायनम्, तथा युद्धवर्ती क्षत्रिय को समाज में बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। महत्त्व कि ब्राह्मण लोग भी अश्वारोहण प्राप्त करने के लिये क्षत्रिय के शिष्य हुए हैं। गीता के युद्ध और शिष्य दोनों ही क्षत्रिय थे। हिन्दूमतानुसार सभी अवसरों में युद्ध का इमन करने के लिये युद्ध किया है। सर्वमयता सर्वास्वसाधिका होने पर भी ब्रह्मात्मा ने स्वयं अस्व चारण कर असुरवधन किया है। गीता में श्रीकृष्ण को अर्जुन ने बार-बार मधुसूदन अरिनिपुदन आदि विशेषणों से अभिहित किया है। बाल्याव में महात्मा गांधी ने जिस रूप में अहिंसा के आदर्श का प्रचार किया है वह हिन्दूधर्म की शिक्षा नहीं है। वह है ईसाई धर्म की शिक्षा विशेषकर कभी मनीषी टास्टराय की शिक्षा।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि युद्ध कभी भी मालवसमाज के अन्दर से दूर न होया जबकि गीता मनुष्य को सर्वथा युद्ध करने की ही शिक्षा देती है। युद्ध अत्यन्त बोर कर्म है पर जबतक ब्रह्म में आधुनिक भावनाएँ मनुष्यों का अस्वाचार होगा जबतक धर्मप्राप्त मनुष्यों का युद्ध करना ही पड़ेगा। नीताचार ने केवल यही दिखाने के लिये युद्ध का उदाहरण ग्रहण किया है कि संसार के सभी आवश्यक कर्म महात्म कि युद्ध जैसा अत्यन्त बोर कर्म भी फलदायक हो सकता है। अनासक्त पाप से भयव्यतिरिक्त कर्तव्य कर्म समझते हुए किया जा सकता है और इस प्रकार युद्ध करने से कोई पाप या बन्धन तो होगा नहीं अपितु इस प्रकार के निष्काम अनासक्त कर्म द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक शिक्षा और पूर्णता भी प्राप्त कर सकता है।

दूसरी ओर जिन सब कर्मों को लोग साधारणतः अच्छा कर्म, धर्म-मय कर्म कहते हैं उन सब कर्मों में भी आसक्ति हो सकती है और साधारणतः मनुष्य उन सब कर्मों को वासना और आसक्ति के साथ ही करते हैं और इस कारण आध्यात्मिक जीवन में वे कुछ भी उन्नति नहीं कर पाते। कर्म में होनेवाली यह आसक्ति रजोगुण से उत्पन्न होती है। पार्श्वात्य देशों का कर्मवाद (Activism) वास्तव में रजोगुणात्मक है। उसके अन्दर अहंभाव और आसक्ति मौजूद है और इस प्रकार का कर्म मनुष्य को दुःख से दुःख में ही ले जाता है, इसका उद्देश्य ऊपर से मनुष्यसमाज का हित करना होने पर भी इसके द्वारा वास्तव में वह हित सिद्ध नहीं होता। बल्कि यह राजसिक प्रेरणा जब प्रबल होती है तब मनुष्य असुरभावापन्न हो जाता है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक जर्मनी है। जर्मन जाति ने कर्मशक्ति का जैसा विकास किया है वैसा ससार में और कहीं भी नहीं देखा जाता। परन्तु इसके पीछे आध्यात्मिक ज्ञान और प्रेरणा न होने के कारण यह विराट् कर्मशक्ति जगत् का ध्वंस करने में नियोजित हुई है। जर्मनी ने इस फलाकाक्षा से विश्वव्यापी महायुद्ध आरम्भ कर दिया है कि समस्त पृथ्वी को जर्मन जाति के वासस्थान के रूप में परिणत कर देना होगा, अन्यान्य सभी जातियों को दास-जाति बनाकर जर्मन जाति की सेवा के लिये बोझ होनेवाले पशुओं के कार्य में लगा देना होगा। अहंभावमूलक, फल-कामनामूलक राजसिक कर्म की यही चरम परिणति है। हम आशा करते हैं कि इस चरम दृष्टान्त को देखकर मनुष्य की आख खुलेगी, अब मनुष्य गीता की अध्यात्म-शिक्षा का प्रकृत मर्म उपलब्ध करके उसके अनुसार जीवन को गठित करने के लिये, जगत् में एक वास्तविक नवीन सत्ययुग की प्रतिष्ठा करने के लिये अग्रसर होगा।

मनुष्य केवल असत्-कर्म ही आसक्ति के साथ नहीं करता, सत्-कर्म में भी उसकी आसक्ति होती है और उसे दूर करना और भी कठिन

होता है। ऐशसेवा, समानसेवा तथा साधारण लोकहितकारी कर्म मनुष्य को सचे की तरह अभिमूढ कर बाधता है, मनुष्य इच्छा होने पर भी उसे छोड़ नहीं सकता। क्योंकि जब सब कर्मों के पीछे उसका यह भाव रहता है यह भाव रहता है कि 'मैं ऐश की सेवा करता हूँ' तथा साध ही सूक्ष्म रूप से यश मान प्रमाण अधिकार की कामना भी रहती है। स्वार्थत्वाणी महामात्य मेरा तक भी ऐसी आसक्ति के बन्ध में आ जाते हैं, बहुत बार वे ससे स्वयं नहीं समझ पाते परन्तु इस प्रकार राज सिक भाव से अभिमूढ होने के कारण उन्हें उचित मार्ग ठीक-ठीक नहीं दिखायी देता कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने में वे पद-पद पर गूँझ करते हैं और इस कारण हितसाधन की चेष्टा करने पर भी असम्भव प्राप्ति के असीम अमंगल का कारण बन जाते हैं। नीला ने राजसी बुद्धि के निश्चय में कहा है—

यथा कर्ममयमेष्य कार्यं नाकार्यमिव च ।

अयथाक्त् प्रजानाति बुद्धिं ता पार्थ राजसी ॥ १८।३१

इस प्रकार अज्ञान से बंधे होकर आसक्ति के बन्ध कर्म करने की सिखा पीता नहीं देती नीला को कर्म करने को कहती है यह जानी का कर्म है, योगी का कर्म है उसे करने के लिये पर्याप्त साधना करने की आवश्यकता होती है। कुछ तो इस बात का है कि वे सब उपाकृष्ट मेरा नील राजसिक बाह्यकार के बन्ध तथा अज्ञान के अधीन होने पर भी अपने को शूब जानी समझते हैं स्वयं बंधे होकर भी दूसरों को रास्ता दिखाने बलते हैं और फलस्वरूप मनुष्यजाति का कुछ-कुछ बढ़ता ही जाता है। उपनिषद् ऐसे लोगों के निश्चय में कहती है—

अविद्यायामन्तरे कर्तमाना स्वयं वीरा पण्डितम्मन्यमाना ।

अहम्पमाना परियन्ति मुखा अन्येनैव नीयमाना बभाम्ना ॥

मुष्कलेपनिषद् १।२।८

साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, जो लोग बड़े यत्न के साथ योगसाधना, अध्यात्मसाधना करते हैं, वे भी ऐसे राजसिक अहंकार और आसक्ति के शिकार बन जाते हैं। निम्न प्रकृति की त्रिगुणमयी माया को अतिक्रम करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अध्यात्म के साधक भी ऐसा समझने लगते हैं कि “मैं इतना बड़ा साधक हूँ, मैं इतना आगे बढ़ चुका हूँ, भगवान् ने अपना महान् कार्य सिद्ध करने के लिये मुझे अपना यन्त्र बना लिया है”। जिसे वे भगवान् का कार्य समझते हैं उसीमें आसक्ति हो जाते हैं, उसे करने के लिये उनकी व्यग्रता और व्यस्तता का अन्त नहीं होता, परन्तु इस प्रकार भगवान् का कार्य करना भी गीता की शिक्षा नहीं है—गीता का योगी तो शान्त, समाहित होगा, वह कभी व्यस्त नहीं होगा, उसे यह मालूम होगा कि भगवान् स्वयं अपना काम पूरा कर लेगे, किसी तरह उसमें व्यतिक्रम न होगा, उसे स्वयं जो कुछ करना है, भगवान् उसके द्वारा जो कुछ कराना चाहते हैं उसे वह शान्त बुद्धि के द्वारा जानकर धीरता और शान्ति के साथ करेगा। बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो अपने मन के आदर्श और धारणा के अनुसार अथवा प्राणों की नाना वासना-कामना के अनुसार कर्म करते हैं और समझते यह है कि भगवान् उनके द्वारा यह कर्म करा रहे हैं, इसमें उनका अपना कोई हाथ नहीं है। ऐसी भूल होने का कारण यह है कि उन लोगों ने भगवान् का यन्त्र बनकर निष्काम भाव से, अनासक्ति के साथ कर्म करने का आदर्श केवल मन द्वारा ही समझा है और ग्रहण किया है, उन्होंने अपने समग्र मन, प्राण और चेतना को उसके लिये तैयार नहीं किया है। जबतक हमारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हो जाता तबतक उसके अन्दर, सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, व्यक्तिगत कामना-वासना का लेश अवश्य रहेगा और हम अपनी समस्त व्यक्तिगत प्रेरणाओं को भगवान् की वाणी, भगवान् की प्रेरणा समझने की भूल भी करेंगे। हमें सदा-सर्वदा और सर्वत्र भगवान् को स्मरण करना

बाह्ये सब प्रकार की कामनाओं और वासनाओं को यथ मान प्रमाण अधिकार जाति की कामना को दूर-दूरकर अपने बाजार से दूर करना चाहिये अपने भीतर प्रकृति के तीनों गुणों की क्रिया को सदा बड़े ध्यान से देखते रहना चाहिये और एकान्त निष्ठ के साथ इस साधना को तबतक चलाते रहना चाहिये जबतक भगवान् भीतर से आत्मज्ञान की पूर्ण व्योमिति से ज्ञानबीजेन भासकता समस्त ज्ञाति और ज्ञानप्रकारका की सम्भाषना को दूर न कर दें।

गीता ने कहा है कि विश्व व्यक्तित्व ने समस्त संकल्प का त्याग कर दिया है समस्त आसक्ति को दूर कर दिया है वही मन्वा योगादक है। संकर ने इसकी व्याख्या की है कि संकल्प का त्याग करने पर कोई कर्म नहीं हो सकता 'महि सर्वसंकल्पसंन्यासे कश्चित् स्वमिदमुपनि श्रुत्वा' अतएव गीता ने जो सर्वसंकल्पसंन्यास की बात कही है उसका अर्थ सर्व कर्मत्याग ही समझना चाहिये। पर यदि ऐसा ही मतलब था तो फिर गीता ने इसे स्पष्ट ही क्यों नहीं कहा? वास्तव में गीता की धिक्का ही यह है कि संकल्प का त्याग तो करना चाहिये परन्तु कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये जबस्य ही लोग साधारणतः संकल्प के बस होकर ही कर्म करते हैं परन्तु योगादक व्यक्ति की कर्म की प्रेरणा ऊर्ध्वतर मूल से आती है समस्त संकल्प और व्यक्तिगत कामना-वासना का त्याग करने पर ही संन्यास करने पर ॥ उक्त मूल का पता मिलता है—इसी कारण बोधी होने के लिये सम्पात्ती होना पड़ता है। संन्यास और कर्मयोग मुख्य एक ही हैं—यही बात गीता ने बार बार कही है फिर भी संकर ने अपने मत की बज्जामे के लिये नाना प्रकार से इस बात को उड़ा देने की चेष्टा की है। संकर की भुक्ति यह है कि संकल्प से सभी कामनाओं की उत्पत्ति होती है कामना के बिना कोई कर्म करना सम्भव नहीं 'सर्वकामपरित्यागे सर्वकर्मसंन्यासः सिद्धो भवति' अतएव समस्त संकल्प का त्याग करने पर सभी कर्म अपने आप बन्द हो जायेंगे।

किन्तु छठे अध्याय के पहले श्लोक की व्याख्या करने हुए स्वयं शंकर ने भी यह स्वीकार किया है कि फलकामनाशून्य होकर कर्तव्य कर्म किया जा सकता है। कामना का त्याग करने से कर्म का त्याग हो जाता है, इस युक्ति की दुर्बलता को समझकर ही शंकर ने कर्मत्याग का समर्थन करने के लिये अन्यान्य शास्त्रवाक्यों को उद्धृत किया है। जैसे महा-भारत से यह व्यास-वाक्य लिया है—

नैतादृश ब्राह्मणस्यास्ति वित्त यथैकता समता सत्यता च ।

शील स्थिति दण्डनिघानमार्जव ततस्ततश्चोपरम क्रियाभ्य ॥

महाभारत, गान्तिपर्व १।६।३७

अर्थात् “ऐक्यानुभूति, समता, सत्यव्यवहार, शील, स्थिरता, अहिंसा, सरलता तथा क्रमशः क्रियाओं से उपरति—इन सबके जैसा ब्राह्मण के लिये कोई दूसरा धन नहीं है”। यह कहना न होगा कि आधुनिक मनुष्य की तरह राजसिकता के वशीभूत होकर एक कर्म के बाद दूसरा कर्म बढ़ाते चलना भारत का आध्यात्मिक आदर्श नहीं है और इस विषय में बहुतेरे शास्त्रवाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं। स्वयं गीता ने भी नैष्कर्म्यसिद्धि को आदर्श कहा है तथा स्पष्ट रूप में यह कहा है कि मनुष्य के अन्दर वर्तमान कर्मप्रवर्तक रजोगुण को अत्यधिक प्रश्रय देने से मनुष्य असुर बन जाता है, उग्रकर्मा बनकर जगत् का अत्यन्त अहित करता है (१६।९)। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म का त्याग करना होगा, भगवान् ने गीता में कहा है कि अगर वह स्वयं आलस्यहीन होकर कर्म न करे तो लोग उनका दृष्टान्त देखकर कर्म बन्द कर देंगे, तामसिकता के कवल में पडकर समाज उत्सन्न हो जायगा। गीता की शिक्षा का यह जो दूसरा पहलू है इसको शंकर ने दवा दिया था और इसके फल-स्वरूप सारा भारत आज इस प्रकार तामसिकता से आच्छन्न हो गया है कि आत्मरक्षा करने की शक्ति भी वह खो बैठा है। इस तामसिकता से भारत को मुक्त कर आसन्न मृत्यु से उसकी रक्षा करने के लिये व्यापक

यप से राक्षसिकता के प्रचार की बहुत अधिक सार्वक्यता है इसमें संदेह नहीं और स्वामी विवेकानन्द ने किया भी यही था। परन्तु इस यप तिक कर्म को ही यदि हम पारवर्त्यमत्तानुयायी हो मानवता का परम आदर्श स्वीकार कर लें तो संसार को जो प्रकाश देने के लिये भारत युग युगान्तर से प्रस्तुत हो रहा है वह बुझ जायगा भारत बर्मच्छुत होकर विनाश को प्राप्त होया। गीता में इसी आदर्श का जो सुस्पष्ट संकेत विद्यमान है वह एक ओर तो संसार की मायाबाधमूलक व्याख्या के कारण और दूसरी ओर आधुनिक व्याख्याकारों की पारवर्त्यमाधमूलक व्याख्या के कारण नष्ट हो हो रहा था श्रीकृष्ण ने अपूर्व साधनजन्य दिव्य दृष्टि के द्वारा पीठा की उसी अमृतमयी सिखा की फिर से यदत् के सामने उपस्थित किया है और अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर के द्वारा पीठा की सिखा को और भी अधिक पथीर और पूर्ण रूप प्रदान किया है।

महाभारत में जिस प्रकार कर्मत्याग की प्रशंसा है उसी प्रकार फिर कर्म की भी प्रशंसा है। महाभारत ने स्वयं इस द्वन्द्व की मीमांसा भी कर दी है—

तद्विद वेदवचनं भूतं कर्म त्वमेति च ।

तस्माद्वर्माभिमानं सर्वाभिामिमांसात् समाचरेत् ॥

अर्थात् कर्म करो कर्म का त्याग करो दोनों ही वेदाज्ञा है। अत एव वर्मन्वाभिमान का त्याग कर समास्त बर्म करना चाहिये।

तस्मान् कममु नि प्लेहा ये केचित् पारवर्तिनः । अस्मिन्पर्य ५१।१२

अर्थात् जो लोग पारवर्ती हैं वे आसक्ति का त्याग कर बर्म करना हैं ।

भारत व इसी समालन कर्मयोग के आदर्श की पीठा ने जित रूप में प्रस्तुत किया है वीमा और वही भी नहीं देगा जाता है। आसक्ति का त्याग करने व ही बर्म का त्याग हो जाता है—एसा पीठा ने

कही भी नहीं कहा है, बल्कि गीता ने बार-बार यह कहा है कि आसक्ति का त्याग कर ससार के आवश्यकीय सभी कर्म करने होंगे (जैसे—२।६४, ३।७, ९, १९, ४।१८—२३, १८।६, ११, २३, २६ इत्यादि)।

किन्तु इस प्रकार आसक्ति का त्याग करना सहज नहीं है, इसके लिये साधना की आवश्यकता होती है। बहुत से लोग ससार-धर्म का पालन करते हुए यह समझते हैं कि वे अनासक्त भाव से जनक राजा की तरह ससार में जीवन बिता रहे हैं। परन्तु ज्यों ही कोई विपत्ति, शोक, पराजय, अपमान इत्यादि आ जाता है त्यों ही उनकी परीक्षा हो जाती है। श्री रामकृष्ण की यह बात याद रखनी होगी कि 'चट से जनक राजा नहीं हुआ जा सकता। जनक राजा ने बहुत दिनों तक निर्जन्त स्थान में तपस्या की थी'। फिर दूसरी तरह के कुछ लोग यह समझते हैं कि जनसाधारण का कार्य करना, राजनीतिक कार्य करना, समाजसेवा करना—यही सब गीता का कर्मयोग है। परन्तु वास्तव में इन सब कर्मों के पीछे रहती है घोर आसक्ति, और इसी कारण यह देखा जाता है कि बहुत से लोग इच्छा होने पर भी राजनीतिक या उसी तरह के अन्य कार्य छोड़ नहीं पाते। मनुष्य का अहं जिन चीजों की खूब तीव्र आकांक्षा करता है—जैसे यश, मान, प्रभाव, अधिकार इत्यादि—वे सब चीजें राजनीतिक कार्य के द्वारा जितनी प्राप्त होती हैं उतनी अन्य किसी क्षेत्र में पाना सम्भव नहीं, यही कारण है कि राजसिक प्रकृति के लोग इन्हीं सब कार्यों में आवद्ध हो जाते हैं। वास्तव में इस प्रकार के कर्म को कर्मयोग कहना अपनेको धोखा देने के सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस तरह हमारी प्रकृति में इन्द्रियभोग्य विषयों के प्रति होनेवाली आसक्ति बद्धमूल है उसी तरह कर्म के प्रति होनेवाली आसक्ति भी राजसिक प्रकृति में बद्धमूल है। स्व० रासबिहारी घोष वृद्धावस्था में भी वकालत करते थे। एक दिन उनके एक

मित्र ने उससे कहा “आपको तो यह भाग्य भन किसीका भी मभाग्य नहीं है जब कार्य से छुट्टी क्यों नहीं के लेते”? इसपर उन्होंने उत्तर दिया था—“इतनी सक्ति मुझमें नहीं—I work chained like a galley slave । प्राचीन काल में श्रमिकों को जिस प्रकार जंजीर से बांधकर डाँड़ बलवाया जाता था इच्छा होने पर भी वे यह कार्य नहीं छोड़ सकते थे उसी प्रकार एनोगुन भी मनुष्य को इच्छा के साथ बांध रक्ता है। इसी कारण जो मनुष्य इस बन्धन को काट देता है उसे गीता योगावृद्ध कहती है। आरम्भ में इच्छासक्ति का प्रयोग कर सब प्रकार की आसक्ति का त्याग करने का अभ्यास करना होता है परन्तु योगसाधना के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्य किसे बिना यह कभी पुरा नहीं होता। इन्द्रियमोक्ष विषयों में आसक्ति का त्याग कर्म में आसक्ति का त्याग तथा समस्त संकल्प का त्याग—ये गीता ने बोना बड़ के समझ कहे हैं। संकर ने कहा है कि इस योगावृद्ध अवस्था में कर्म नहीं रहता कर्म का रहना सम्भव नहीं। साधारणतः समाधि का जो अर्थ समझा जाता है बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाना शरीर और इन्द्रियों की सभी क्रियाओं का बन्द हो जाना इत्यादि—उसीको संकर ने योगावृद्ध अवस्था समझा है। परन्तु गीता समाधि का अर्थ ऐसी निष्क्रिय निस्तम्ब अवस्था नहीं मानती। द्वितीय अध्याय के ५५वें श्लोक से लेकर ७२वें श्लोक तक स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ व्यक्ति के लक्षणों का वर्णन किया गया है वे सब लक्षण भीतर ही बाहरी नहीं। वह व्यक्ति समस्त मनोबल कामनाओं से दूर होता है, वह आत्मा में ही दृष्ट होता है बाह्य किसी विषय से आसक्त नहीं होता बाह्यी स्थिति की गमीर तम शान्ति में प्रतिष्ठित रहकर, निर्मय निर्णकार निस्पृह होकर समान म विचरण करता है कर्म करता है। संकर ने जो यह कहा है कि ऐसे व्यक्ति के लिये स्पन्दित होना अथवा भी हान-पैर हिलाना सम्भव नहीं यह निश्चय ही गीता की शिक्षा नहीं है—

विहाय कामान् य सर्वान् पुमाञ्चरति निस्पृह ।

निर्ममो निरहंकार स शान्तिमधिगच्छति ॥ २।७१

योगाह्ण व्यक्ति बाह्य इन्द्रिय-विषयो में आसक्त नहीं होता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वह विषय में आनन्द नहीं पाता या विषय के आनन्द का त्याग करता है। तब वह किसी बाह्य वस्तु से जो आनन्द पाता है वह उस वस्तु के कारण नहीं पाता, इस कारण भी वह नहीं पाता कि वह वस्तु उसके किसी अभाव या आकाक्षा को पूरी करती है, बल्कि उस वस्तु में जो आत्मा विद्यमान है उसके कारण वह उस वस्तु में आनन्द पाता है। वह अपने सच्चिदानन्द आत्म-स्वरूप की उपलब्धि करता है, आत्मानन्द में सर्वदा मग्न रहता है और फिर सब मनुष्यों, सब वस्तुओं में उसी एक सच्चिदानन्द आत्मा को देखकर सर्वत्र उसी आनन्द को प्राप्त करता है। कोई वस्तु न पाने पर भी उसके आत्मानन्द में कोई कमी नहीं आती, इसी कारण वह राजसिक आकाक्षा के बश किसी बाह्य वस्तु को पकड़ना नहीं चाहता, किसी वस्तु के प्रति आसक्त नहीं होता, यदृच्छालाभसतुष्ट ।

उसी तरह किसी कर्म में भी उसे आसक्ति नहीं होती, वह जानता है कि भगवान् का कार्य भगवान् कर ही लेगे, उसके लिये उसे व्यग्र या व्यस्त होने की कोई आवश्यकता नहीं। अर्जुन यदि कुरुक्षेत्र का युद्ध न करते तो भी भीष्म, द्रोण कोई भी नहीं बचता, भगवान् ने पहले ही उन सबको मार डाला था, अर्जुन यदि तामसिक अहंकार के बश में होकर युद्ध न करते तो दूसरे लोगों को निमित्त बनाकर भगवान् वह कार्य पूरा कर लेते। वह भगवत्प्रेरणा से जो कार्य करता है उसमें उसका कोई अहम्भाव नहीं रहता—वह जानता है कि भगवान् ही उसके सब कर्म पूरे कर देते हैं। यह करना होगा, वह करना होगा—इस तरह वह कोई सकल्प नहीं करता, वह केवल ऊपर से आनेवाली भगवान् की प्रेरणा की प्रतीक्षा करता है और भागवत शक्ति को अपने हाथ-

पैर के द्वारा कार्य करने देता है। अतएव एक दृष्टि ने वह सर्वकर्म स्वामी ही होता है, क्योंकि उसका न तो अपना कोई संकल्प ही होता है और न कर्म ही—उसके द्वारा होनेवाले सभी कर्म होते हैं भगवान् के कर्म।

अतएव जो लोग राजसिद्धता के बशीभूत हो वैस के कार्य समाज के कार्य में सर्वदा तल्लीन रहते हैं 'वह करना होना वह नहीं करना होना'—इस प्रकार मन में संकल्प-विकल्प किया करते हैं वे बड़ अकर्मण्य जबदा संकीर्ण स्वार्थपरमाण व्यक्तियों से भेष्ट होने पर भी कर्मयोगी या योगात्मा नहीं हैं। योगी ने सबसे कर्मों के सम्बन्ध इस प्रकार कहे हैं—वह योगी अर्थात् मासक्ति के बन्ध में होता है, असात्त कर्मकलाकांक्षी कोभी हिसापरवन्ध सीखायाएकीन सिद्धिप्राप्ति से हर्षान्वित और असिद्धि से शोकान्वित होता है। इस अवस्था से ऊपर चढ़कर कर्म योगी होने के लिये पहले सत्त्वगुण को प्रथम देकर सात्त्विक कर्मों होना होगा। सात्त्विक कर्मों के सम्बन्ध है—वह अनहंकारी मुक्तसंघ सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार होता है। पाश्चात्य आदर्श के अनुसार जो लोग कर्तव्य के लिये कर्तव्य करते हैं, *Duty for the sake of duty* वे लोग भी ठीक सात्त्विक कर्मों नहीं हैं उनके अन्दर भी साधारण राजसिद्धता का प्राधान्य रहता है, फिर भी वहाँ सत्त्वगुण की किरा भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक करी का सकती है। कारण उपद्वी (Duty) का बाहिर अर्थ क्या है? जो उत्कर्म्म के नाम से समाज में प्रचलित है, जो मनुष्य के विवेक द्वारा अनमोक्षित है जिसके द्वारा समाज का वैस का सारी मनुष्यजाति का भंगल होने की सम्भावना नाकूम होती है इत्यादि ऐसे कर्मों को ही Duty या कर्तव्य कहा जाता है। इस प्रकार के कर्तव्ययोग के बन्ध जो लोग कार्य करते हैं वे अपनी व्यक्ति न्त संकीर्ण स्वार्थपरता तथा कुछ भोगवासना को तो एक हल तक संयत करते हैं, परन्तु उनके अन्दर भी अहंभाव कर्ता होने का भाव रहता

गीता में अनासक्ति-योग

हो है। उम अवस्था में सूक्ष्म रूप में वासना की क्रिया भी चलती रहती है, केवल एक प्रकार की वासना के बदले वे दूसरे प्रकार की वासना का अनुसरण करते हैं, उनमें कर्म के प्रति आसक्ति और व्यग्रता साधारण स्वार्थपर कर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है—परार्थपरता के नशे के समान तीव्र नशा और कोई नहीं है। फलफल की ओर अगर दृष्टि न भी हो तो भी कर्म के प्रति तीव्र आसक्ति होती है, उसे सम्पन्न करने के लिये बहुत अधिक व्यग्रता और चेष्टा होती है,—और ये सब हैं राज-सिकता के लक्षण—इससे शक्ति का अपव्यय होता है, इसकी प्रतिश्रिया अवसन्नता प्रदान करती है। ऐसे व्यक्ति मावु माने जा सकते हैं, किन्तु वे योगी नहीं हैं। यहातक कि सात्त्विक कर्मों भी योगी नहीं हैं क्योंकि सत्त्वगुण का भी बन्धन होता है। सत्त्वगुण के प्रभाव में मनुष्य पाप-पुण्य व कर्त्तव्याकर्त्तव्य-सम्बन्धी अपनी व्यक्तिगत धारणा में आमक्त हो जाता है, भगवान् की इच्छा के सामने अपने-आपको पूर्ण रूप से समर्पण नहीं कर सकता। सात्त्विक गुण के अभ्यास के द्वारा मनुष्य जब पूर्णरूपेण समस्त अहंभाव और आसक्ति से मुक्त हो जाता है, अपनेको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के निकट समर्पण कर देता है तभी वह वास्तव में योगारूढ होता है, त्रिगुणातीत होता है, गीता के आदर्शानुसार कर्मयोगी होता है।

भीखरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

१

जैसे मेरे साथ हुआ है उसी तरह इस प्रकार के बहुत से लोग होंगे जिन्होंने योगविज्ञान होने पर पहले पातञ्जल योगशास्त्र का अध्ययन किया है और अब एक जीवित महान् योगी—भीखरविन्द—का नाम सुन कर, उनकी महिमा जानकर, उनके बचनों आदि से प्रभावित होकर उनकी योगपद्धति को समझना चाहते हैं। तो ऐसे लोगों के लिये ही अर्थात् पातञ्जल योग की पृष्ठभूमिका में भीखरविन्द-योग को समझना चाहनेवालों के लिये ही यह लेख लिखा जा रहा है।

पहले हम इन दोनों योगों का संक्षेपता द्वारा विवेचन करेंगे।

योग की अन्तरंगता और बाह्य कर्म

योगदर्शन का पहला पाद, समाधिपाद अस्सी श्लोकों के लिये है। इसे ही अस्सी पातञ्जल योगपद्धति कहना चाहिये। दूसरे साधनपाद में दो वर्षण हैं वह आरम्भ करनेवालों के लिये हैं कि वे भी कैसे योग तक पहुँच सकें। उसमें योग के अष्टांग में से पहले पाँच बहिरंगों का ही वर्णन है। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग हैं। अस्सी योग तो अन्तरंगों का क्षेत्र तीन वर्णों का—

ध्यान, धारणा, समाधि का—है जिनका कि पातञ्जल योग के तीसरे पाद में वर्णन है, क्योंकि सब विभूतियाँ, सिद्धियाँ योग के अन्तरङ्गों से, आन्तरिक योग से ही प्राप्त हो सकती हैं। पातञ्जल योगशास्त्र के अन्तिम (चौथे) पाद में और भी ऊँची ज्ञानचर्चा है। सो श्रीअरविन्द की योगपद्धति में भी साधारणतया आसन, प्राणायाम आदि बहिरङ्गों की, दूसरे शब्दों में हठयोग की कोई आवश्यकता नहीं। उनके आश्रम में हठयोग की क्रियाएँ करना प्रायः मना है। वैसे श्रीअरविन्द सब महा-पुरुषों की तरह, समन्वय-दृष्टिवाले हैं, वल्कि एक विशेषतया महान् समन्वयवादी हैं। उन्होंने 'Synthesis of yoga' (योग का समन्वय) नाम से 'Arya' (आर्य) में जो अद्भुत लेखमाला लिखी थी उसमें हठयोग का भी उचित स्थान है। आज से २०-२१ वर्ष पूर्व मैंने अपना फोटो भेजकर अपने वारे में श्रीअरविन्द से पूछा था तो उन्होंने मुझे ही, मेरे सिर में कुछ रुकावट बतलाते हुए, हठयोग करने की सलाह दी थी। परन्तु साधारणतया हठयोग उनके यहाँ त्याज्य है क्योंकि हठयोग की क्रियाएँ कुछ नीचे दर्ज की शक्तियों को उद्बुद्ध कर डालती हैं जिनपर (किसी महान् गुरु की सहायता के बिना) काबू नहीं पाया जा सकता। बहिरङ्गों की अपेक्षा ध्यान आदि अन्तरङ्गों की ही श्रीअरविन्द की योगपद्धति में महत्ता है।

पर इसका यह मतलब नहीं कि बाहर की वस्तुओं के प्रति इस में उदासीनता है। असल में तो आगे चलकर अन्दर बाहर एक हो जाता है। और श्रीअरविन्द के योग में तो बाहर का भी बहुत महत्त्व है, पर वह अन्दर से निकला होना चाहिये। ऊपर से आये अन्दर के सत्य के अनुसार बाहर भी सब ठीक ठीक करना, पूरा पूरा सुव्यवस्थित रूप से सौन्दर्यपूर्वक अभिव्यक्त करना उनके योग की विशेषता है। श्री-अरविन्द के कथनानुसार असल में सम्पूर्ण जीवन ही योग है। अन्त-सत्य की स्थूल में बाह्य अभिव्यक्ति तो योग का उद्देश्य ही है। अतः

बाह्य कर्म भी ठीक ज्ञान्तर स्थिति से किया हुआ होने पर योग ही है, और आवश्यक योग है। ऐसे कर्म के बिना योग अपूरा है। दूसरे शब्दों में यौतोक्त कर्मयोग श्रीकृष्ण के अभीष्ट है। यौता पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं वे उनके योग को पूरी तरह समझने के लिये आवश्यक पढ़ने चाहिये। पर उनका यह कर्मयोग-भाग भी पाठ्य-युक्त योगदर्शन के किया-योग से भिन्न नहीं है, जिसका वर्णन योगदर्शन के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में है। तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को किया-योग कहा गया है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ करते हुए माय-कार व्यासजी ने विस्तृत बही किया है जो यौता में बार बार उद्धृत है या श्रीकृष्ण अपनी पुस्तकों में कहते हैं ईश्वरप्रणिधानम् सर्व क्रियाणां परमगुणवर्धनं तत्फलसंन्यासो वा [ईश्वरप्रणिधान है सब क्रियाओं का परम सुख (समवाय) में अर्पण या उनका छन्दसाग] अस्तु। उक्तिप्राम यह है कि श्रीकृष्ण का योग अन्तःमुख्य अन्तःमुख्य-प्रतिष्ठित हुकर बाहर अन्तिम ओर तक पहुँचनेवाला है और पाठ्य-युक्त योग में भी अन्तरङ्ग की ही महिमा है, यद्यपि बहिरङ्गों का भी वहाँ एक आवश्यक स्थान है।

मगवान् और उसकी शक्ति (माता) के प्रति समर्पण या प्रणिधान

श्रीकृष्ण अपने स्वीकृत योग को पूर्णयोग या सर्वांगीण (Integral) योग नाम से कहना पसन्द करते हैं। यह कहा जा चुका है कि उनकी योगपद्धति में सब चीजों का सम्मिलन हुआ है। हठयोग राजयोग (पाठ्य-युक्त योग राजयोग ही है) तन्मयोग आदि के और दूसरी तरह ज्ञानयोग कर्मयोग भक्तियोग के समुचित सम्मिलन से उनकी योगपद्धति बनी है। उनके मार्ग में शक्ति या माता की सहायता प्राप्त

श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

करना अनिवार्य है। वह अन्तिम रूप में विकसित तन्त्रयोग से ली गयी कही जा सकती है। वैसे शक्ति का वर्णन योग में सर्वत्र ही है। हठयोग की साधना में ही कुण्डलिनीशक्ति, शक्ति या योगशक्ति को जागृत करना अनिवार्य है। पर ऊँचे रूप में वही शक्ति माता हो गयी है। माता को अपने आपको प्रेमपूर्वक बिना समर्पण किये और उसकी सहायता बिना प्राप्त किये श्रीअरविन्द के योग में सिद्धि नहीं होती है। सो ईश्वर को (और फलतः उसकी शक्ति को) यह व्यक्तित्ववान् रूप देना भी पातञ्जल दर्शन में देखा जाता है। साख्य के पुरुष और प्रकृति सूखे हैं, उनके प्रति 'भक्ति' हो सकना कठिन है। पर योगदर्शन और साख्यदर्शन में, इनके परस्पर सजातीय दर्शन होते हुए भी, जो कुछ भेद हैं उनमें एक मुख्य भेद यही है कि योगदर्शन ईश्वर का, पुरुषविशेष का, प्रतिपादन करता है और उसकी भक्ति करना योगसिद्धि के लिये उपाय मानता है। पतञ्जलि का प्रसिद्ध सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १-२३

इसपर भाष्य करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं, “प्रणिधान से अर्थात् भक्तिविशेष से अभिमुख किया हुआ परमेश्वर उसे अभिध्यान मात्र से अनुगृहीत कर लेता है”।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित-

ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

यह पतञ्जलि का प्रणिधान वही वस्तु है जिसपर श्रीअरविन्द समर्पण (या भक्ति) नाम से बहुत जोर देते हैं। यद्यपि इसी तरह माता रूप से (दिव्य) प्रकृति के प्रति भक्ति का स्पष्ट उल्लेख पातञ्जल दर्शन में नहीं है, फिर भी ईश्वर के प्रति भक्ति उसकी (दिव्य) शक्ति के प्रति भी आसानी से हो सकती है। जैसे, व्यास मुनि इससे दो सूत्र पहले के बीसवे सूत्र के भाष्य में श्रद्धा के विषय में कहते हैं कि वह कल्याण-मयी माता की तरह योगी की रक्षा करती है—“सा हि जननीव कल्याणी

योगविचार

बाह्य कर्म भी ठीक मात्रा में स्थिति से किया हुआ होने पर योग ही है, और आवश्यक योग है। ऐसे कर्म के बिना योग अधूरा है। दूसरे शब्दों में यौक्तिक कर्मयोग श्रीमदभिनव को अभीष्ट है। गीता पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं वे उनके योग को पूरी तरह समझने के लिये आवश्यक पढ़ने चाहिये। पर उनका यह कर्मयोग नाम भी पाठम्भज योगदर्शन के क्रिया-योग से भिन्न नहीं है जिसका वर्णन योगदर्शन के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में है। तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रिया-योग कहा गया है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ करते हुए माध्व कार व्यासजी ने लिख्युक्त यही लिखा है जो गीता में बार बार वक्ति है या जो श्रीमदभिनव अपनी पुस्तकों में कहते हैं “ईश्वरप्रणिधानम् सर्व क्रियाणां परमगुणवर्णनं उत्कलसंन्यासो वा” [ईश्वरप्रणिधान है सब क्रियाओं का परम गुण (भगवान्) में वपन या उनका फलस्वाप्त], अस्तु। यमिष्टाय यह है कि श्रीमदभिनव का योग अन्तःमुखक अन्तःप्राप्ति होकर बाहर अन्तिम छोर तक पहुँचनेवाला है और पाठम्भज योग में भी अन्तरङ्ग की ही महिमा है। यद्यपि बहिरङ्गों का भी वहाँ एक आवश्यक स्थान है।

भगवान् और उसकी सृष्टि (मत्ता) के प्रति समर्पण या प्रणिधान

श्रीमदभिनव अपने स्वीकृत योग को पूर्वयोग या सार्वांगीय (Integral) योग नाम से कहना पसन्द करते हैं। यह कहा या चुका है कि उनकी योगपद्धति में सब चीजों का सम्मेलन हुआ है। इन्द्रिय राजयोग (पाठम्भज योग राजयोग ही है) तन्मयोग आदि के और दूसरी तरह ज्ञानयोग कर्मयोग भक्तियोग के समुचित सम्मेलन से उनकी योगपद्धति बनी है। उनके मार्ग में शक्ति या मति की सहायता प्राप्त

श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

करना अनिवार्य है। वह अन्तिम रूप में विकसित तन्त्रयोग से ली गयी कही जा सकती है। वैसे शक्ति का वर्णन योग में सर्वत्र ही है। हठयोग की साधना में ही कुण्डलिनीशक्ति, शक्ति या योगशक्ति को जागृत करना अनिवार्य है। पर ऊँचे रूप में वही शक्ति माता हो गयी है। माता को अपने आपको प्रेमपूर्वक बिना समर्पण किये और उसकी सहायता बिना प्राप्त किये श्रीअरविन्द के योग में सिद्धि नहीं होती है। सो ईश्वर को (और फलतः उसकी शक्ति को) यह व्यक्तित्ववान् रूप देना भी पातञ्जल दर्शन में देखा जाता है। साख्य के पुरुष और प्रकृति सूखे हैं, उनके प्रति 'भक्ति' हो सकना कठिन है। पर योगदर्शन और साख्यदर्शन में, इनके परस्पर सजातीय दर्शन होते हुए भी, जो कुछ भेद हैं उनमें एक मुख्य भेद यही है कि योगदर्शन ईश्वर का, पुरुषविशेष का, प्रतिपादन करता है और उसकी भक्ति करना योगसिद्धि के लिये उपाय मानता है। पतञ्जलि का प्रसिद्ध सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १-२३

इसपर भाष्य करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं, “प्रणिधान से अर्थात् भक्तिविशेष से अभिमुख किया हुआ परमेश्वर उसे अभिध्यान मात्र से अनुगृहीत कर लेता है”।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित-

ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

यह पतञ्जलि का प्रणिधान वही वस्तु है जिसपर श्रीअरविन्द समर्पण (या भक्ति) नाम से बहुत जोर देते हैं। यद्यपि इसी तरह माता रूप से (दिव्य) प्रकृति के प्रति भक्ति का स्पष्ट उल्लेख पातञ्जल दर्शन में नहीं है, फिर भी ईश्वर के प्रति भक्ति उसकी (दिव्य) शक्ति के प्रति भी आसानी से हो सकती है। जैसे, व्यास मुनि इससे दो सूत्र पहले के बीसवे सूत्र के भाष्य में श्रद्धा के विषय में कहते हैं कि वह कल्याण-मयी माता की तरह योगी की रक्षा करती है—“सा हि जननीव कल्याणी

योगिनम् पाति' । साधारणतया प्रकृति सभ्य तों पुरुष से विपरीत (महिष्य) वस्तु को बर्णाने के लिये ही पातञ्जल योग में माया है, पर दिव्य शक्ति को भी—जम से कम वैयक्तिक दिव्य शक्ति को—इन्द्र-शक्ति (२९) स्वामिशक्ति (२-२३) चितिशक्ति (४३४) नाम से इन योगयुक्तों में पुकारा गया है। श्रीअरविन्द का योग निःसन्देह शक्तिप्रधान है। ज्ञान और कर्म आवश्यक ॥ और अन्त में ये तीनों एक ही हो जाते हैं तो भी यह कहना ही अधिक ठीक है कि शक्ति में ही ज्ञान और कर्म सार्थक होते हैं।

समाधिसिद्धिरीस्वरूपविधानात् ॥ २४५

इस सूत्र में "ईश्वरपितृसर्वमात्मस्य समाधिसिद्धिः" यह जो व्याख्य भी ने लिखा है ठीक वही श्रीअरविन्द के श्रोत्र की गति है। सर्वमात्र से ईश्वरपितृ होने से सब सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह समर्पण-मात्र और इस प्रकार की शक्ति ही उप की अपेक्षा श्रीअरविन्द का योग-मात्र है। जैसे यह समर्पणमात्र ईश्वर में चाहिये वैसे ही उसकी दिव्य शक्ति (माता) में भी। क्योंकि ईश्वर और उसकी शक्ति बाह्यर अमिन्न ही है। पर वह दिव्य योगशक्ति योग को जाने जाने बलाती है यह तो पातञ्जल में भी माना गया है। जैसे ३-६ के माध्य में कहा है—
योगेन योगो ज्ञातव्यः योगो योगात् प्रवर्तते ॥

अतिमानस विज्ञानमय प्रकाश

श्रीअरविन्द के योग को विज्ञानमय योग नाम से भी कहा जाता है, क्योंकि ऊपर उठकर मन से परे अतिमानस विज्ञान-तत्त्व की प्राप्ति और उसके द्वारा नीचे का क्यान्तर इस योग की मुख्य विशेषता है। यह श्रीअरविन्द के योग की तीसरी विशेषता कही जा सकती है। पर इस बात में भी पातञ्जल योग की छाबी मिलती है—वस्तु इसमें तो यह बहुत ही स्पष्ट है। मन से ऊपर के प्रकाश को प्रज्ञाकोशों को

पाना ही तो पातञ्जल योग में समाधि का लक्ष्य है। साधारणतया योगजिज्ञासु लोग समाधि को ही लक्ष्य समझते देखे जाते हैं। पर पातञ्जल योग में भी समाधि तो आठ योगागो में से (चाहे अन्तिम ही सही) एक अंग ही है, और इन योगागो का (समाधि का भी) उद्देश्य है ज्ञान-दीप्ति, विवेकख्याति तक ज्ञानदीप्ति। योगसूत्र कितना स्पष्ट है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते ॥ २-२८

एव प्रकाश के आवरण को हटाना योगसाधना का प्रयत्न है यह बार बार कहा है—

तत क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २-५२

प्रकाशावरणक्षय ॥ ३-४३

और जहा “उपायप्रत्यय” नामक असली योगियो का मार्ग-क्रम बताया गया है उस सूत्र में भी समाधि से अगला क्रम प्रज्ञा (ज्ञानप्रकाश) कहा है—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ १-२० ॥ फिर धारणा-ध्यान-समाधि से, समय से, जो वस्तु प्राप्त होती बतायी गयी है वह भी है प्रज्ञालोक अर्थात् ज्ञानप्रकाश—

तज्जयात् प्रज्ञालोक ॥ ३-५

इसी प्रज्ञालोक के विविध भूमिकाओ में विनियोग करने से नाना विभूतिया, सिद्धिया प्राप्त होती हैं (देखो ३-६) ।

आगे इस विभूतिपाद में ही प्रातिभ ज्ञान का—जिसे तारक ज्ञान भी कहते हैं—वर्णन है जिसके उदित होने पर योगी सब कुछ जान सकता है—“प्रातिभाद्वा सर्वम्” ॥ ३-३३ ॥ पर यह प्रातिभ भी जिस महाज्योति का पूर्व रूप है, जैसे उषा सूर्य का पूर्वरूप होती है, वह है विवेकज ज्ञान जिसका वर्णन इसी पाद के ५२वे और ५४वे सूत्रों में है। श्रीअरविन्द ने उच्च मन से लेकर अतिमानस (विज्ञान) तक जिन उत्तरोत्तर प्रकाश-परम्पराओ का वर्णन किया है उन्हींमें इन प्रातिभ और विवेकज ज्ञान का स्थान भी सम्भवतः ठहराया जा सकता है। पर

यहाँ इतने विस्तार में जाने की गुम्नामश नहीं।

अध्यात्मप्रसाद से होनेवाली “अतन्मय प्रज्ञा” तो विलुप्त रही
 दिया की वस्तु है जिसे श्रीअरविन्द विज्ञानमय प्रकाश (Supramental
 light) कहते हैं, जिसका प्रथम पाव के इस प्रसिद्ध सूत्र में
 वर्णन है—अतन्मय एव प्रज्ञा ॥ १-४८

एक बार श्रीअरविन्द से मैंने इस बारे में पूछा भी था। उन्होंने
 उत्तर दिया था कि अतन्मय प्रज्ञा या तो स्वयं विज्ञानमय प्रकाश की
 अवस्था हो सकती है या बहुत सम्भव है उच्चतर स्वरूप प्रकाश से
 (स्वयं विज्ञानमय प्रकाश से नहीं) ली हुई अवस्था।

इसी प्रकार ४-११ सूत्र में उस अनन्त ज्ञान-प्रकाश का वर्णन
 है जिसमें पहुँचकर ज्ञेय न बृहत् रह जाता है जिसके सामने ज्ञेय अस्त
 हो जाता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि उच्च प्रकाशों और अवस्थाओं
 की प्राप्ति का जो मार्ग श्रीअरविन्द ने विस्तार से दिखा है वह पाठम्यक
 योग में भी दर्शाया गया है।

रूपान्तर

आरोह अवरोह (Ascent और Descent) का जो श्रीअरविन्द
 के योग में वर्णन करता है वह तो बोड़े बहुत रूप में सभी पद्धतियों में
 है। केवल श्रीअरविन्द के योग के विद्याक और व्यापक होने से योग
 की यह द्विविध गति यहाँ विद्याक रूप में जाती है। पर श्रीअरविन्द
 इस द्विविध गति द्वारा जिस दिव्य रूपान्तर (Transformation) की
 बात करते हैं उसकी भी प्रक्रिया का वर्णन इस योगसूत्र में सूत्रमता
 से पाया जा सकता है—आत्मन्तरपरिणाम प्रकृतापूरत् ॥ ४-२

मेरी समझ में इस सूत्र में प्रसिद्ध तीन परिणामों के बतिरिक्त यह
 आत्मन्तरपरिणाम भी बताया गया है जो प्रकृति के “आपूर से” होता
 है अस्तु।

सारांश यह है कि पातञ्जल योग में बीज रूप से पीछे से विकसित हुए भी सब सच्चे योगमार्ग निहित हैं, सो इस रूप में श्रीअरविन्द का मार्ग भी इसमें है ही, जो कि जगत् की वर्तमान अवस्थाओं में और मानव के वर्तमान विकासक्रम में सबसे अधिक स्वाभाविक और पूर्ण प्रतीत होता है।

(२)

ऊपर हम इन दोनों योगों का सदृशता द्वारा विवेचन कर चुके हैं। अब विसदृशता द्वारा विवेचन करेंगे। क्योंकि इन दोनों दृष्टियों से ही देख लेने से वस्तुओं का पारस्परिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

जब इन दोनों योगों में विसदृशता की, भेद की, बात में कहता हूँ तो पहले यह बताने की जरूरत है कि मैं पातञ्जल योग उसे मान लेता हूँ जो योग कि पातञ्जल सूत्रों से और विशेषतया उसपर हुए व्यासभाष्य से सूचित या अनुमित होता है। पतञ्जलि द्वारा सूचित योगपद्धति आज उस रूप में कोई जीवित योगपद्धति नहीं है जैसी कि श्रीअरविन्द-योगपद्धति है जिसके कि प्रवर्तक जीवित रूप में विद्यमान है और जिसकी कि साधना उनके पथप्रदर्शन में सैकड़ों साधक जीवित जाग्रत् रूप में करते हुए आज देखे जा सकते हैं। इसीलिये इस लेख के शीर्षक में मैंने जहाँ 'श्रीअरविन्द की योगपद्धति' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं वहाँ दूसरी तरफ 'पातञ्जल योग' इतना ही कहा है, इसके साथ 'पद्धति' शब्द प्रयुक्त नहीं किया। जिस समय पातञ्जल योग लिखा गया उस समय इसकी कोई क्रियापद्धति या पद्धतिया जीवित रूप में अवश्य प्रचलित होगी, परन्तु इस समय तो हम उसका अन्दाज ही कर सकते हैं। पुस्तकीय बात और क्रियात्मक बात में जो अन्तर होता है वही अन्तर अब यहाँ हो चुका है। इस समय पातञ्जल योग बहुत कुछ पुस्तकीय वस्तु है। योग के जानने की प्रबल उत्कण्ठा होने पर

मैंने विद्यार्थीकाल में जो कुछ योगविषयक साहित्य गुरुकुल में उस समय मिल सका वह सब पढ़ा था। पातञ्जल योगदर्शन भी बड़ी भड़ा से पढ़ा था। पर सिवाय प्रवचन के और कुछ क्रियात्मक चीज उसमें से नहीं समय में आयी या मिली। आसन प्राणायाम की क्रियात्मक विधि—वह्निक प्रवचन की भी क्रियात्मक विधि—किसी जानकार अनुभवी गुरु से सीखने की चीज है यही सब तरह से माफूम हुआ। योगशिक्षकों की तकाश में ब्रूमने पर जब बहुत से योगाम्नासियों से परिचय हुआ तब यह और भी स्पष्ट हो गया कि प्रचलित योग की पद्धतियाँ बहुत हैं उनके भी बहुत से सम्प्रदाय हैं, और उनमें से भी जो राजयोग या ध्यानयोग करके प्रसिद्ध हैं वह भी बिम्बुत पातञ्जल योग नहीं हैं। तब यह भी देखा कि वर्यपि सब योगशिक्षक पातञ्जल योग को आदर की दृष्टि से देखते हैं पर उनकी पद्धतियाँ कुछ नये प्रकार की हैं। दो-एक ऐसे विद्वान् मनु भी मिले जो अपने योग को सर्वथा पातञ्जलानुसारी प्रतिपादित करने से पर उनके भी ध्यान आदि के प्रकारों में कुछ परम्परागत ऐसी विधियाँ (आवश्यक और उपयोगी विधियाँ) देखी जिनका पातञ्जल योग में कहीं नाम तक नहीं था। सबसे अधिक प्रचलित तो मैंने देह में शक्ति-संचारयोग (एक प्रकार का उल्लसयोग) पाया है जिसका कि अनुष्ठान करनेवाले बहुत हैं। दूसरे स्थान पर हठयोग फिर हठयोगसहित राजयोग की पाया है। अस्तु यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि ठीक पातञ्जल योग क्या है यह इस समय निश्चित बताना कठ कठिन है। इसमें सभी योगों के सकेत मौजूब हैं।

पातञ्जल सूत्रों के साथ व्यासब्राह्म की भी बात मैंने इसविषये कही है क्योंकि केवल सूत्रों के तो कई तरह के वर्ण किये जा सकते हैं और किये गये हैं। स्वामी रामानन्दजी ने कई प्रसिद्ध योगसूत्रों की अपनी ही व्याख्या की है जो व्यासब्राह्म से भिन्न हैं। मैंने भी इस लेख के प्रथम

श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

भाग में एक दो जगह मूल सूत्रों को ही अपने अर्थ के लिये आधार बनाया है, न कि उनपर हुए भाष्यों को। प्राचीन और पूजित पुस्तकों के विषय में बहुधा ऐसा ही होता है कि पीछे से उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्या होने लगती है, पीछे के लोग उनसे मतभेद प्रकट करने की अपेक्षा उनका अर्थ बदलने, उनकी नयी व्याख्या करने का ही मार्ग ग्रहण करते हैं। इसलिये यह कह देना आवश्यक हुआ है कि इस लेख के प्रयोजन के लिये पातञ्जल योग (दर्शन और क्रियात्मक विधि) से मेरा मतलब वही है जो कि पातञ्जल सूत्रों पर प्रसिद्ध व्यासजी के भाष्य और वाचस्पति मिश्र की मानी हुई टीकाओं से प्रकट होता है।

योग का स्वरूप

तो सबसे पहले श्रीअरविन्द के योग और पातञ्जल योग में जो भेद है वह योग के स्वरूप के विषय में ही है। पातञ्जल योग में तो योग है 'चित्तवृत्तिनिरोध', चित्त की वृत्तियों का निरोध (रुक जाना)। यह योग मन से सबंध रखता है, मानसिक है। पर श्रीअरविन्द के योग में मन से परे जाने पर सब जोर है। योग शब्द के विस्तृत अर्थ लिये जाते रहे हैं, जैसे कि उपनिषद् में कहा है 'योगो हि प्रभवाम्ययौ' (कठोप० ६-११)। मेरी समझ में यह जगद्व्यापक योग का वर्णन है। गीता में भी जो 'समत्व योग उच्यते' तथा 'योग कर्मसु कौशलम्' कहके दो जगह योग की परिभाषा की गयी है वह भी जीवनव्यापी योग की तरफ निर्देश करती है। पर पातञ्जल योग में योग को चित्तवृत्तिनिरोध तक ही सीमित कर दिया गया है। योग का जो अति प्रचलित अर्थ जोड़ना, मिलना है वह भी पातञ्जल में नहीं प्रतीत होता। व्यासजी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'योग समाधि', इसपर लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट लिखा है कि

इसलिये यहाँका योग शब्द 'युजिर् योगे' वातु से नहीं बना है किन्तु 'युज समाधी' से बना है।

'युज समाधी' इत्यस्माद् व्युत्पन्नं समाध्यर्थं न तु 'युजिर् योग' इत्यस्मात्समाधौ इत्यर्थः।

तो पातञ्जल योग में योग का अर्थ केवल समाधि ॥ चित्तवृत्ति-निरोधरूप समाधि। येने सेव के पूर्वार्थ में जा कहा है कि समाधि का भी कइय प्रकार है वह भी प्रचलित टीकाओं से अनुमोदित नहीं है। टीकाओं के अनुसार तो जिस समाधि से प्रज्ञा पैदा होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि है जब इन अज्ञान-वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है तब जो असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि होती है वह असमी समाधि है वह असमी पूर्व चित्तवृत्तिनिरोध है, असमी योग है।

पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है श्रीमद्भिर के योग में सम्पूर्ण जीवन ही योग है केवल चित्तवृत्ति का निरोध ही नहीं। पर केवल चित्तवृत्तिनिरोध का तो बड़ा साधन के तौर पर भी कतना अधिक महत्त्व नहीं। क्योंकि यह योग भागवतिक नहीं आध्यात्मिक है। इसमें साधक को मन से ऊपर अतिमानस स्थितिमें जाना है और उससे भी मन को रोकना निश्चय कर देना नहीं किन्तु उसकी धर्म के अन्तर्गत द्वारा इसको (मन को) बड़े मन से कुछ किया बिना किया के योग्य बनाकर इससे कार्य करना है। इसका यह मतकर्म नहीं कि इस योग में चित्तवृत्तिनिरोध जबस्ति मन को शान्त अचञ्चल निश्चल-नीच करना साधन के तौर पर आवश्यक नहीं है। यह तो आवश्यक है। पर इस योग में स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भिर के योग में एक ऐसा व्यक्ति अधिक बड़ा हुआ हो सकता है जिसका मन अभी अचञ्चल या निरुद्ध नहीं है पर जिसे अध्यात्म-स्पर्श प्राप्त हो चुका है उस मनुष्य की ओर जिसे चित्तवृत्ति का इष्टपूर्वक निरोध काफी समय का प्राप्त किया है पर अध्यात्म-स्पर्श नहीं पया

श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

है। यहा योग का अर्थ वस्तुतः जुड़ना, युक्त होना है (न कि समाधि), जीवात्मा और परमात्मा का जुड़ना, इन दोनों का मचेतन सम्बन्ध स्थापित होना। हमारे चित्त व मन के पीछे जो अन्तरात्मा है, हमारे अन्दर की दिव्य सत्ता है उसका ऊपर भगवान् के साथ सम्पर्क हो जाना, आदान-प्रदान होने लगना, इनके जोड़ने-वाले मार्ग का खुल जाना, उद्घाटित हो जाना, पुकार और पूर्ति का सम्बन्ध स्थापित हो जाना यही श्रीअरविन्द के योग का स्वरूप है।

एक दूसरे रूप में कहें तो श्रीअरविन्द के योग तथा पातञ्जल योग में मौलिक भेद यह है कि श्रीअरविन्द का योग क्रियाशील (Dynamic) है, स्थितिशील (Static) नहीं। श्रीअरविन्द के अपने शब्दों में यह भेद इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

“अन्य योगशिक्षाओं की अपेक्षा इस शिक्षा में मौलिक भेद यह है कि एक क्रियाशील (Dynamic) भागवत सत्य (विज्ञान) है और वह सत्य अज्ञान के इस वर्तमान जगत् में अवतरित हो सकता है और एक नवीन सत्य-चेतना का निर्माण कर सकता तथा जीवन को भागवत, दिव्यतामय बना सकता है। प्राचीन योग सब मन-बुद्धि से निरपेक्ष ब्रह्म की ओर चलते हैं, और सारी क्रियाशील (Dynamic) सत्ता को माया या लीला मानते हैं, जहा तुम स्थितिशील (Static) और अपरिवर्तनीय दिव्य सत्य में प्रविष्ट हुए, तो तुम, उनका कहना है, इस सब विश्वसत्ता के पार हो जाते हो।”

(इस जगत् की पहली)

इसीसे हम अगले विषय पर आ जाते हैं।

योग का लक्ष्य

श्रीअरविन्द के योग का स्वरूप ऐसा इसलिये है क्योंकि उसका लक्ष्य भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है, न कि केवल्य प्राप्त करना।

कैवल्य का अर्थ भी बहुत से लोग परमात्मा की प्राप्ति समझ सकते हैं। स्वामी वयानन्दजी ने यह अर्थ लिया ही है। स्वामी वयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुत्सास क खण्ड में मुक्ति का वर्णन करते हुए पाठञ्जल योग के आरम्भिक दो मुख्य सूत्रों को उद्धृत किया है—

योगविषयवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥

उदा ग्रन्थः स्वल्पेऽवस्थानम् ॥ २ ॥

और न केवल 'एकाग्रता' का अर्थ परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म में चित्त को उद्धारना किया है किन्तु ग्रन्थ के स्वल्प में उद्धार का अर्थ 'उसके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में बीजात्मा की स्थिति' किया है। व्यासभाष्य आदि के अनुसार यहाँ परमात्मा या ईश्वर का कोई नाम-निर्धान भी नहीं है। स्वामीजी जैसे समाधि की केवलता को परमेश्वर में स्थिति मानते हैं वैसे कैवल्य को भी परमात्म-प्राप्ति मानते हैं। पर साध्य और योग धर्मेन की गानी हुई प्रवर्तित व्याख्या के अनुसार तो "कैवल्य" वह परिभाषा जिस अर्थ में प्रयुक्त हुई है वह पुण्य (जात्मा) का केवल हो जाना ससार के बंध से तटस्थ हो जाना प्रकृति का उसके प्रति विलुप्त निवृत्त हो जाना है जिसका कि वर्तमान योगदर्शन में सबसे अन्तिम सूत्र द्वारा इस प्रकार हुआ है—

पुत्सार्थसूत्रानाम् पूजानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वल्पप्रतिष्ठा वा चित्तिसन्निरिति ।

यदि कैवल्य यही है तो इस वैयक्तिक मोक्ष को पाना बीजरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं है। बीजरविन्द के योग की सिद्धि के लिये तो केवल नहीं होना है किन्तु भयवान् से मिलना है पूरी तरह मिलना है अणु को नहीं छोड़ना है किन्तु अणु पर भयवान् का राज्य स्थापित करना है प्रकृति को त्याग्य (हेय) समस्त प्रकृति से किनारा नहीं करना किन्तु प्रकृति का भी रूपान्तर कर उसे दिव्य लोक के योग्य बना देना है। इस योग का साधक इसलिये योगसाधना नहीं करता कि वह अन्त में भयवान् में लीन

हो जाय, वह तो इसलिये साधना करता है कि वह भगवान् के हाथों में उनका शुद्ध दिव्य यन्त्र बन जाय, फिर भगवान् उसका जो चाहे करे।

और इस योग में भगवान् को पाने का अर्थ यह नहीं है कि केवल मानसिक तौर से (ध्यान या समाधि द्वारा) पाना, जैसा कि साधारण-तया समझा जाता है। किन्तु सारे जीवन के द्वारा पाना, या पूर्णरूप से पाना है, अर्थात् आत्मा, मन, प्राण और शरीर इन सबमें भगवान् को पाना है। इसका मतलब है कि आत्मा का परमात्मा की सत्यचेतना से सतत सम्बन्ध हो जाने पर मन और प्राण और शरीर का भी बड़ी भारी साधना द्वारा दिव्य रूपान्तर कर उनमें भगवान् को प्रतिष्ठापित करना, एक शब्द में पूर्णतया दिव्य बन जाना।

और फिर यह भी कह देना चाहिये कि कुछ व्यक्तियों का इस प्रकार अपनेको पूर्ण दिव्य बना लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीमे धीमे कालान्तर में सम्पूर्ण मनुष्यजाति ही दिव्य, देवजाति बन सकेगी, इस पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकेगा, यह मर्त्यलोक स्वर्गधाम बन सकेगा, जैसा कि श्रीअरविन्द ने 'हमारा योग और उसके उद्देश्य' नामक पुस्तक के प्रारम्भ में कहा है "जिस योग की साधना हम करते हैं उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की एक आवश्यक अवस्था है, बल्कि उसका उद्देश्य है मानव-सत्ता की मुक्ति और रूपान्तर सिद्ध करना। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनन्द पाना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है दिव्य आनन्द को—ईसा के स्वर्गीय राज्य को, हमारे सत्ययुग को—पृथ्वी पर उतार लाना।" (द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १)। पर यह एक दूर का ध्येय है, भगवान् जो इस विश्व में योग कर रहे हैं उसका भाग है। हमारे लिये तो इतना पर्याप्त है कि श्रीअरविन्द के इस क्रियाशील योग का दूसरे लोगों पर भी प्रभाव पड़ेगा ही और जो लोग मन से ऊपर जाने को तैयार होंगे उन सबको सहायता पहुँचेगी एव सब जगत् दिव्यता की ओर अग्रसर होगा।

योग के साधन

उद्देश्य के अनुसार साधना में भी भेद आ जाता है। पातञ्जल योग में तो 'इन्द्रप्रविधान' मनोनिरोध के मुख्य प्रयोजन के लिये बहुत से साधनों में से केवल एक साधन है जैसा कि 'इन्द्रप्रविधानाद्वा' इस सूत्र के 'वा' पर से स्पष्ट है यद्यपि पांच नियमों में से एक नियम के तौर पर और चिया योग के एक अंग के तौर पर यह पातञ्जल योग में भी अनिवार्य है। पर श्रीबर्तबिंद के योग में यही सब कुछ है ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि भगवान् को न केवल अपने सब बाह्य कर्म किन्तु अपने अन्दर बाहर के सब अङ्गों की सभी क्रियायें और सब बल और सब कुछ ही भगवान् को सीपना यहाँ मौलिक वस्तु है। जिसका ही पूर्ण समर्पण होगा उसनी वही भगवान् की मणि माना की ध्वनि हममें संघातित हो सकेगी।

इस योग की आध्यात्मिक वस्तु उद्घाटन के लिये भी समर्पण की आवश्यकता है। समर्पण और समीक्षा द्वारा अन्तर्क कि उद्घाटन नहीं हो जाता तब तक इस योग की वास्तविक क्रिया प्रारम्भ ही नहीं होती। उद्घाटन का मतलब है अन्दर अन्तरात्मा हृत्पुरुष का खुल जाना और ऊपर चेतना के सत्य प्रकाश के मार्ग का खुल जाना। इस उद्घाटन के हो जाने से ही भगवान् की दिव्य ध्वनि प्रकाश ध्वनि विराजता आदि हममें आ सकती है और हम दिव्य बन सकते हैं। श्रीबर्तबिंद कहते हैं—

'इस योग का सम्पूर्ण विज्ञान यही है कि अपने आपको भगवान् की सीप की समर्पित कर दो अन्य किसीको भी नहीं अन्य किसी भी रूप का नहीं और भगवती माता के साथ समुक्त होकर विज्ञानमय भगवान् की परा श्योनि ध्वनि विज्ञानता ध्वनि पवित्रता सत्य-चतता और आनन्द को अपने अन्दर ले आओ। —योगप्रदीप

पर इन दिव्य श्योनि ध्वनि आदि के हममें आने का उपकरण क्या है यह भी जानना चाहिये। यह उपकरण है प्रागुक्त हुआ अन्तरात्मा

श्रीअरविन्द की योगपद्धति और पातञ्जल योग

हृत्पुरुष। पातञ्जल योग में जो मन का स्थान है वह यहा अन्तरात्मा का है इसलिये इस योग मे पहला काम है हृत्पुरुष को जगाना, उद्घाटित करना। हमारे अन्दर जो कुछ है उसमें यही एक दिव्य सत्ता है, अतः यही भगवान् की दिव्य शक्तियों को सीधा ग्रहण कर सकती है। मन आदि द्वारा वे (सीधी) गृहीत नहीं हो सकती—

‘अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सीधे भागवत सत्य से सम्बद्ध रहता है, पर मनुष्य में इस हृत्पुरुष को मन, प्राण और देह छिपाये रहते हैं’। ‘इस योग में हृत्पुरुष ही है जो शेष प्रकृति का मुख वास्तविक परम विज्ञान की ओर, अन्त में परम आनन्द की ओर खोल देता है’। (योगप्रदीप) सो हृत्पुरुष का उद्घाटन इस योग में पहला प्रयत्न है। और ‘पवित्रता, सरल सचाई तथा दम्भ और वनावट से रहित एवं अहंकारशून्य विशुद्ध आत्म-समर्पण का सामर्थ्य, ये ही हृत्पुरुष के पूर्ण उद्घाटन के साधन हैं’। इसलिये, श्रीअरविन्द कहते हैं, इस योग में ‘हृदय ही ध्यान का मुख्य केन्द्र होना चाहिये, जबतक कि चेतना की गति आप ही ऊपर की ओर न हो जाय’।

यह हृदय तथा ऊपर में दो ही स्थान हैं जहा श्रीअरविन्द के योग की मुख्य गतिया होती हैं। जैसे हृदय की गति में हमें अन्तरात्मा को खोजकर पाना होता है वैसे ऊपर की गति में मन से भी ऊपर अतिमानस (विज्ञानतत्त्व) की पूर्ण सत्य-चेतना को प्राप्त करना होता है। इस योगसाधना में साधक या तो हृदय में कार्य हो रहा अनुभव करता है या ऊपर की चेतना में। इन दोनों के बीच आरोहण और अवरोहण (अवतरण) की एक प्रक्रिया चलती है। आरोहण और अवतरण ये दोनों परस्परपूरक होते हैं। “आरोहण से दिव्य अवतरण शक्य होता है, और अवतरण उसे पूरा करता है, सिद्ध कर देता है जिसके लिये कि आरोहण किया जाता है”। (इस जगत् की पहेली)। इस आरोहण और अवतरण की प्रक्रिया द्वारा ही दिव्यता नीचे लायी जाती है। आरो-

हम द्वारा भगवान् की दिव्य चेतना तक हमारी पहुँच होती है और अब राहुम (अवतरण) द्वारा वहाँसे प्राप्त दिव्यता द्वारा आधार का दिव्य रूपान्तर होता है।

पातञ्जल योग में जैसे यम-नियम-आसन आदि का चतुरोत्तर बढ़ता कम है वैसे यहाँ आरोहण में मन उच्च मन प्रकाशित मन स्वरूपात्मक मन अभिमानस और फिर अतिमानस (विज्ञान) की बढ़ती सीढ़ियाँ हैं। इन सीढ़ियों में न केवल आरोहण होता है किन्तु अवरोहण भी। आरोहण तो पातञ्जल योग में भी है वह चाहे विज्ञान तक पहुँचता हो या न पहुँचता हो। पर अवरोहण भीतरदिग् के योग की विशेषता है, क्योंकि दिव्य रूपान्तर इसीसे होता है। यहाँ कबल आरोहण का अपने आपमें कुछ मुख्य नहीं है, यहाँ आरोहण अवतरण के लिये है। कुछ न कुछ अवतरण भी आरोहण के साथ साथ अन्य योगों में भी होता ही है किन्तु वह अवतरण यहाँ काफी नहीं यहाँका अवतरण वह अवतरण है जो बदलने की रूपान्तर की शक्ति रखता है। पातञ्जल योग आदि में जो सांति ज्ञान प्रेम आनन्द का अवतरण होता है वह मुक्ति के लिये है, पर यहाँका अवतरण मुक्ति के ही लिये नहीं किन्तु पूर्णता के लिये अवचेतना तक के रूपान्तर तथा पूर्णता के लिये होता है। इस मेरु को हमें स्मरण रखना चाहिये।

तो इस योग में होने वाली गतियों का होना आवश्यक है। जैसे ऊपर के कक्ष की दृष्टि से आरोहण अवरोहण की गति है जिससे कि भगवान् की दिव्य शक्तियाँ नीचे छापी जाती हैं वैसे पहले कहे धर्म-कैवल्य या हृत्पुण्य की दृष्टि से उसके इर्द-गिर्द होनेवाली ऊपर बाहर की गति है जिससे कि वस्तुतः दिव्य रूपान्तर का काम होता है। भीतरदिग् के अपने सत्त्वा में 'वस्तुतः' हमारी सत्ता के संगठन में और इसके बगैरे में जो प्रजातिमा एक साथ काम कर रही हैं एक कैवल्य के चारों तरफ बसने वाली हैं जिसमें अनेक चेतों और कोशों के बीच कैवल्यस्वाम पर हृत्पुण्य

योगभय

मनुष्य पहले से ही नानाविध भयों से आक्रान्त है। रोगभय, मृत्युभय, धननाशभय, निर्वल हो जाने का भय, नौकरी छिन जाने का भय, दूसरे के अप्रसन्न हो जाने का भय, अपमानभय, पतनभय आदि आदि न जाने कितने कितने प्रकार के भय हैं, जिनसे पहले ही मनुष्य आक्रान्त, पीडित और त्रस्त रहता है। इन अनगिनत भयों में कम से कम एक और भय की वृद्धि हो गयी दीखती है।

‘योगभय’ नाम से इस नये भय का नाम आपने चाहे सुना हो या न सुना हो, पर इस भय से पीडित व्यक्ति तो मैंने बहुत से देखे हैं।

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी का सी आई डी की तरह इसलिये पीछा करते और पता लगाते रहते थे कि वह कही योग की बात करने-वाले अमुक व्यक्ति के पास तो नहीं जाता। ऐसे अनेक मातापिताओं को जानता हूँ, जो बड़ी ईमानदारी के साथ अपने पुत्रों को ‘जीवन बर्बाद करनेवाले’ इन योगाभ्यासियों के ‘फदे’ में पडने से बड़े यत्न से बचाना चाहते हैं, यद्यपि वे धर्म तथा ईश्वर की बड़ी बड़ी बातें और बढ-बढकर करते हैं। एक महानुभाव अपने एक विद्वान् सम्बन्धी के विषय में बड़े चिन्तित थे क्योंकि उन्हें कुछ ऐसा दीखता था कि उसे ‘पाण्डिचेरी की बीमारी’ होती जा रही है। मेरे एक मित्र की पत्नी अपने पति की घाति, नेति (हठयोग के शारीरिक शुद्धि के उपकरण) आदि वस्तुओं को मौका पाकर छिपा देती या फेंक देती थी। कई पति भी ऐसे

सौमित्रिचार

कर्मन के किये साधक को उत्तरोत्तर पकते हुए समर्पण और उसे की जरूरत होती है। समर्पण तो हस्तुक्ष्म का स्वाभाविक बर्मे है। अभीष्टा है हस्तुक्ष्म की पुकार या प्रार्थना। इनके साथ ही ही है परित्याग जिसकी कि साधक को अपने मन-मान-सुख के निम्न विरोधी शक्तियों को हटाने के किये उत्तम प्रयुक्त करने की जरूरत होती है। यह है हस्तुक्ष्म की प्रतीकार करने की हटाने की क्रिया। एवं वागम्यता योग के अभ्यास और वैराग्य की बाध यह अभीष्टा की परिणाम है।

यहां मैंने संक्षेप में श्रीबजरिन्द की योगपद्धति को दिखाने के कुछ प्रयास किये हैं। अधिक जानना चाहनेवालों को श्रीबजरिन्द की अपने ग्रन्थ ही पढ़ने चाहिये जिसमें 'योग-समीप' और 'योग के बाधा' देखने में इस पद्धति की बातें अन्य योगों के साधनों से भिन्न नहीं उन्हें वस्तुतः आरम्भ में बहुत सी समानताएँ हैं ही क्योंकि यह योग (हस्तु और विज्ञानरत्न की विशेषता के साथ) सब योगों का समन्वय योग ही है। पर इस सब प्रकाश की हमें समझ कम में देखना चाहिये वह समझता ही श्रीबजरिन्द की योगपद्धति को बनाती है। मैं यह अवश्य ही एक नवी चीज है, नयी पद्धति है, नया मार्ग है। एक ही नया मार्ग है जिसे कि श्रीबजरिन्द ने अपनी ३ वर्षों की सम्पीरता के बनाया है जिससे कि उनके पीछे आनेवाले अनुयायी तत्पर बन सकें महान् ध्येय को सिद्ध कर सकें। अस्तु।

आशा है इस सब विवेचन से वास्तविक योग की पृष्ठभूमि श्रीबजरिन्द-योग की समझना चाहनेवालों की कुछ सहायता मिलेगी

योगभय

मनुष्य पहले से ही नानाविध भयों से आक्रान्त है। रोगभय, मृत्युभय, धननाशभय, निर्बल हो जाने का भय, नौकरी छिन जाने का भय, दूसरे के अप्रसन्न हो जाने का भय अपमानभय, पतनभय आदि आदि न जाने कितने कितने प्रकार के भय हैं, जिनसे पहले ही मनुष्य आक्रान्त, पीडित और त्रस्त रहता है। इन अनगिनत भयों में कम से कम एक और भय की वृद्धि हो गयी दीखती है।

‘योगभय’ नाम से इस नये भय का नाम आपने चाहे सुना हो या न सुना हो, पर इस भय से पीडित व्यक्ति तो मैंने बहुत से देखे हैं।

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी का सी आई डी की तरह इसलिये पीछा करते और पता लगाते रहते थे कि वह कही योग की बात करने-वाले अमुक व्यक्ति के पास तो नहीं जाता। ऐसे अनेक मातापिताओं को जानता हूँ, जो बड़ी ईमानदारी के साथ अपने पुत्रों को ‘जीवन बर्बाद करनेवाले’ इन योगाम्यासियों के ‘फदे’ में पड़ने से बड़े यत्न से बचाना चाहते हैं, यद्यपि वे धर्म तथा ईश्वर की बड़ी बड़ी बातें और बढ-बढकर करते हैं। एक महानुभाव अपने एक विद्वान् सम्बन्धी के विषय में बड़े चिन्तित थे क्योंकि उन्हें कुछ ऐसा दीखता था कि उसे ‘पाण्डिचेरी की बीमारी’ होती जा रही है। मेरे एक मित्र की पत्नी अपने पति की घौति, नेति (हठयोग के शारीरिक शुद्धि के उपकरण) आदि वस्तुओं को मौका पाकर छिपा देती या फेंक देती थी। कई पति भी ऐसे

हेर्ले मये हं जो कह्यो है कि जगजी फली न जाने क्या 'बाहियाठ' माग
बोव करने लगी है और वे करते हैं कि वह अमुक प्रगिठ साधु-संन्यासियों
के पास इसके सिमे क्यों जाती है।

योग स दुनियावी सम्बन्ध विच्छेद ॥ जान का जो भय होता
है वह ठो है ही पर उसके अतिरिक्त भी बहुत सें बोव बिना बस
जाने ही जैसे ही योग से 'होवा' की तरह या 'एक क्या' की तरह
करते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि योग से किसीको भी और किसी
अवस्था में भी करना नहीं चाहिये। पर यह जरूर कहना चाहता
हूँ—और इसके बड़े जाने की बहुत जरूरत है—कि जन्म भयों की तरह
यह योगभय भी प्रायः कास्परिक होता है अज्ञान के कारण होता है।
जैसे साधारण धारणा यह है कि योग में प्रवृत्त होने पर दुनिया का सब
सुख छिन जाता है। परन्तु योग से जो अपार अक्षय सुख का द्वार
खुल जाता है उसे वे नहीं जानते। इसी तरह योग योग में पड़ अपना
जर-कुटुम्ब छठम हो जाने से करते हैं, पर यह जरूरी नहीं है। और
यदि वह कष्टम होता है तो उससे बहुत अधिक विद्याल ठका उससे
बहुत अधिक सन्ने और बृह प्रेम से मुक्त जर-कुटुम्ब मिल जाता है।
बहुत सें योग योगमार्ग को बिस्कुस सूचा नीरस समझते हैं पर
ठीक योगमार्ग का पता न होने से ही वे ऐसा समझ बैठते हैं। सब
तो यह है कि जिस योग में उत्तरोत्तर सरसता सुख सौन्दर्य स्वास्थ्य
आति नहीं उस योग में कुछ नमी है कुछ नमसी है। वह नास्तिक
योग नहीं है।

योग के नाम से करनेवाले एक मेरे सुविधित मित्र ने जब एक
बार श्रीमदरविन्द के योगाभय को जाकर मन्त्री तरह देव सिद्धा तब उन
का योगविषयक वह महानय जाता रहा। उन्होंने तब कहा 'यदि
योग-जीवन यह है, योग का परिणाम यह है तब तो योग बड़ी अच्छी

और अत्यन्त उपयोगी वस्तु है, यही है जिसकी मनुष्य को वास्तव में आवश्यकता है।'

तो भी इसका यह मतलब भी नहीं कि योग से किसीको हानि नहीं होती या किसीको कुछ खतरा नहीं हो सकता। गलत तरीके से योग करने के कारण बिगड़े हुए, क्षत-विक्षत, आहत तथा विक्षिप्त हुए लोग हमें जगह जगह मिल जाते हैं। बहुत बार लोग विपरीत भाव से ही योग करते हैं। उनके लिये मातृवाणी में कितना ठीक कहा गया है —

“खतरे और कठिनाइयाँ तो तब उपस्थित होती हैं जब कोई भगवान् के लिये योगसाधना नहीं करता, बल्कि उसको किसी शक्ति की प्राप्ति के लिये करता है और योग की आड़ में किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श न्त करो। यह आग है जो जला देती है।”

परन्तु यदि हम ठीक तरीके से और ठीक भाव से योग करते हैं तो यही आग हमें तीव्र वेग से मानव जीवन के परम ध्येय, उच्चतम कल्याण की तरफ ले जाती है। क्योंकि तब भगवती माता की कृपा हमपर रहती है, और तब हमारे लिये भय का कोई भी कारण नहीं रह सकता। इसलिये श्रीअरविन्द हमें परम आश्वासन देते हुए कहते हैं —

“और जब भगवती माता का वरद और रक्षक हाथ तुम्हारे ऊपर होगा तब फिर कौन है जो तुम्हारे ऊपर उगली उठा सके या जिससे तुम्हें भय करना पड़े? इसकी अत्यल्प मात्रा भी तुम्हें सब विघ्नबाधाओं और सकटों के पार कर देगी, इसकी पूर्ण सत्ता से घिरकर तुम अपने रास्ते पर निरापद आगे बढ़े चले जा सकते हो। क्योंकि यह रास्ता माता का है, यहाँ किसी विभीषिका की चिन्ता नहीं, किसी शत्रु का भय नहीं—वह चाहे कितना ही बलवान् हो, इस जगत् का हो या अन्य

किसी अवस्थ जगत् का। माता के वराभयहस्त का स्पर्श कठिनाइयों को सुप्न में विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविनाश बल में परिवर्त कर देता है। कारण मां भगवती की दया भगवान् की अनुमति है और माता या बल उसका फल निश्चित है—पूर्वनिर्दिष्ट है, अवश्यमावी और अकृष्ट है।

और अरुण में देखें तो योग व मय की बात ही क्या है, क्योंकि योग तो एक अत्यन्त स्वाभाविक वस्तु है। 'सब जीवन ही योग है'। श्रीकृष्ण के इस वचन को जितना ही सोहराया जाय उतना बोका है। योग से करना जीवन से करना है मृत्यु की तरफ जाना है। अधिक प्रवृत्ति बर्ष में बहें तो 'भगवान् की तरफ जाने के लिये जीवन बिताना ही योग है'। देखें तो श्रीकृष्ण की विद्याल दृष्टि में हर एक मनुष्य ही जाने बनाने भगवान् की ओर ही जा रहा है बिना जाने योग कर रहा है। पर जब वह आत्मा में जाकर भगवान् को पाने के लिये यात्रा शुरू करता है तब अस्पष्ट योग करनेवाला हो जाता है। तो योग का अर्थ है तीव्र गति से परमेश्वर की तरफ यात्रा करना। मानो रेलक या बैठपाड़ी में यात्रा करने के स्थान पर रेल पर या हवाई जहाज से भगवान् की तरफ यात्रा करना। सबकुछ योग द्वारा कई जीवनो का काम एक जीवन में या कुछ वर्षों में पुरा हो जाता है।

यह ठीक है कि तीव्र गति के मान पर संचारी करने में सतरा भी अधिक हो सकता है। पर यह जरूरी नहीं है। यदि अच्छे चालक द्वारा चलाये जानेवाले बुद्ध और उत्तम मान पर संचारी करोगे तो बहा कोई सतरा नहीं होगा। श्रेष्ठ युव की अभीगता में सन्ने उत्कृष्ट योगमार्ग पर चलने लो बड़ी तेजी से चलते हुए भी तुम्हें कोई मय नहीं हो सकता। भारतीयों से शायद कुछ लोग जब भी ऐसे मिस जायें जो कि रेलगाड़ी पर इसलिये संचारी न करें क्योंकि कभी कभी रेलें

टार्रा भी जाती है। पर भारत में भी आज प्रायः सभी लोग दिन-रात रेल का गफर निशक होकर कर रहे हैं। यह मक्का की एक आम मक्का हो गयी है। बल्कि कुछ ही दिनों में हवाई जहाज की मक्का भी आम हो जाती देखती है।

और समय आनेवाला है—वही तेजी से वह समय आ रहा है—जब कि योग एक आम वस्तु हो जायगी। समय आ रहा है जब योग घर घर में दीपक की तरह जलेगा और घर घर को अपने अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित करेगा। हृदय हृदय में उमगी पवित्र अग्नि प्रदीप्त होगी और मानव-जीवन को प्रवाणमान और सुगन्धित करेगी। शायद कोई भी आदमी इसने अछूना न रह सकेगा। ये योग ने उम्मेद वाले। निश्चय जान एक दिन तैरा दरवाजा भी वह गट-गटायेंगा। उस समय तू उस नये में आगन्तुक को देखकर चौंक न जाना, उस के मारे अपना दरवाजा बन्द न कर लेना। क्योंकि इसमें प्रकट अकल्याण की बात और कुछ न होगी। तूने तब बिगड़-निर्भय होकर इस परम कल्याणकारी अभ्यागत देव को हृदय में अपनाना, इसके लिये अपना साग घर निशक होकर खोल देना, और इसे उसमें समा लेना।

प्रश्नोत्तरी

१

भयवान् किसे अपनाते हैं ?

जो उन्हें अपनाता है।

संसार में सबसे कठिन क्या है ?

ऊपर उठना बढ़ना ऊर्ध्वगति करना।

मनुष्य को नीचे के स्तर में बाधकर किसने रखा है ?

बाधना ने और बाधकार ने।

उसके ऊपर उठने में सबसे अधिक सहायक क्या है ?

अभीष्टा और मयकल्पना।

भयवान् की कृपा कहते हैं जर्वा की तरह सब जगह बरस रही है तो फिर हम उसे पाते क्यों नहीं ?

इसलिये कि हम उसके प्रति जुझे हुए नहीं या हममें श्रद्धाशक्ति नहीं।

भयवान् की कृपा से क्या होना है ?

पूछो 'क्या नहीं होता है ?

भयवान् किसे बरसे है ?

जिसे वे कमीनी पर कसने पर लपट पाते हैं।

भयवान् किसे नहीं मूस सकते ?

जिसे हमने भरोसे अपने आपको छोड़ दिया है जो धरदावत हो गया है।

साधक को प्रसन्नतापूर्वक तथा स्वीकार करना चाहिये ?

जो कुछ भगवान् को थोर से आ जाय।

उसे मगने अधिक किस बात के लिये बलवान् रहना चाहिये ?

उन बात के लिये कि साधना की जिम चोटी पर वह चढ़ चुका है उससे तिर भर भी बर पीछे न हटे।

साधक को क्या नहीं करना चाहिये ?

न तो जड़वाजी और न ही उग्रता।

क्या करना चाहिये ?

अपने उद्योग का प्राप्त करने के लिये अपनी अभीप्सा का पवित्र यज्ञाग्नि को तरह नदी निरन्तर प्रज्वलित रहना।

साधक को किससे बचना चाहिये ?

एक तरफ राजसिक अत्युत्साह में दूसरी तरफ तामसिक निरुत्साह में।

साधक को अपना सर्वस्व देकर बदले में क्या मागना चाहिये ?

शरणागति में उत्तरोत्तर वृद्धि और ग्रहण-शक्ति।

साधक के लिये सबसे घातक क्या है ?

गुरु में अपने दोष और दुर्गुणताओं को छिपाना।

साधक को सतत किस बात की आवश्यकता है ?

सदा जागते रहने की।

उसे अपने अन्दर बिसे नहीं आने देना चाहिये ?

निराशा और उदासी को।

साधक को किस बात में जग भी घबराने की जरूरत नहीं ?

उतराव-चढ़ाव में। क्योंकि उतराव-चढ़ाव या उच्च-नीच का आना तो साधना में अत्यन्त स्वाभाविक है।

अपने शत्रुओं में युद्ध करने के लिये साधक का सबसे बड़ा शस्त्र क्या है ?
सकलपशक्ति।

साधक को दिगाड़नेवाली चीज क्या है ?

विज्ञान की मायता ।

साधना में कतल कहाँ है ?

वहाँ कण्ड है ।

२

मन क्या चाहता है ?

प्राण को अपने साथ बसीट के जाना ।

प्राण क्या चाहता है ?

मन पर भी प्रभुत्व जमाना ।

शरीर क्या चाहता है ?

मन और प्राण को अपने बसाव में रखना ।

इनमें विजयी कौन होता है ?

जब वो बलवान् होता है ।

इस जीवातानी में मनुष्य कबतक पड़ा रहता है ?

जबतक वह इनमें एकता की स्थापना नहीं कर लेता ।

इनमें एकता कैसे लानी जा सकती है ?

साधना के द्वारा—इन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों में एकता लाने के लिये ही तो साधना की जाती है ।

शान्ति का मोटी कहाँ रहता है ?

साधना की सीपी में ।

मन के शान्त और सर्वतोभावेन भगवन्मयी होने में क्या होता है ?

अन्तर का वह बरमाबा सुकृता है जिससे दिव्य शक्ति दिव्य प्रकाश आदि प्रवेश करते हैं ।

ध्यान में सबसे बड़ा बाधक क्या है ?

विषय-भोगों की स्मृति ।

साधक को ध्यान में बैठने से पूर्व क्या करना चाहिये ?

पहिले अपनी पुकार उठानी चाहिये।

ध्यान या साधना में उसे क्या करना होता है ?

माता की दायित उत्तर आने पर उनके हाथ अपने आपको छोड़ देना।

सबसे पहिले हिम बात का यत्न करना चाहिये ?

शान्ति को पाने के लिये और शान्ति की स्थापना के लिये।

मन माने ही नहीं तो क्या करना चाहिये ?

उस पर जोर-जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये, न झुल्लाना चाहिये,

बल्कि एक हठी बालक को जैसे मीठे प्रेम के शब्दों में समझाया जाता

है वैसे मन को समझाना चाहिये और उसे उसकी भूल सुझा देनी

चाहिये।

४

हमारी आँख कौन खोलता है ?

आन्तर चक्षु, गुरु, और बाह्य चक्षु, हमारा निन्दक।

सच्चा गुरु क्या करता है ?

शिष्य में परमेश्वर की ज्योति उत्तर सके, इसका उसे अधिकारी बनाने

का यत्न करता है।

गुरु का उपदेश अपना प्रभाव कब दिखाता है ?

जब मन शुद्ध, शान्त और निर्मल होता है।

योग में कौन नहीं प्रवेश कर सकता ?

जो एकरस जीवन में डरता है।

मनुष्य शान्ति कब पाता है ?

जब वह वासनाओं को पोसना छोड़ देता है।

मन की दौडधूप कबतक चलती है ?

अध्यात्म-रस का चस्का जबतक उसे नहीं लग जाता।

सामाजिक काम-काज करते हुए भी स्थिर शान्ति कैसे रह सकती है ?

सब भूतों में अपनी आत्मा का अनुभव कर लेने से।

योगविचार

एक आत्मा सागों में वीरस्य में विभक्त होने पर भी पूर्ण कैसे बना रहता है ?

जैसे एक विद्युत ग तारों विराम जसा होने पर भी उसही द्रव्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

पाप क्या है ?

जो भगवान् में दूर हटाये ।

दुष्प क्या है ?

जो भगवान् के निष्ठ पहुँचाये ।

मद्य बेहतर क्या है ?

कोरे करने से कम्पा ।

गीता में योगसमन्वय

योग और अध्यात्मसाधन की आरम्भिक बात यह है कि सब प्रकार की कामनाओं और सङ्कल्पों का त्याग करना चाहिये। परन्तु कामनाओं का त्याग क्यों करना चाहिये? साधारणतः लोग यह कहते हैं कि स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रभाव इत्यादि इहलोक के जितने भोग हैं और परलोक के जितने सुख हैं वे सब अनित्य, क्षणभंगुर और दुःख देनेवाले हैं, इसलिये इनकी कामना को छोड़ देना ही होगा। विरक्त सन्यासी ससार और कर्म के त्याग के पक्ष में यही युक्ति देते हैं। परन्तु गीता ने कही भी ससार और कर्म को छोड़ने का आदेश नहीं दिया है। गीता के मतानुसार इस विश्व ब्रह्माण्ड में जहाँ जो कुछ है स्वयं भगवान् हैं—वासुदेव सर्वम्। तब हम किस वस्तु का, किस कर्म का त्याग कर सकते हैं? उपनिषद् ने कहा है, जगत् आनन्द से उत्पन्न हुआ है, आनन्द में ही है और आनन्द से आनन्द की ओर जा रहा है। अतएव वास्तव में जगत् दुःखमय नहीं है, जगत् आनन्दमय, सौन्दर्यमय, प्रेममय है। इसीलिये एक बंगाली कवि कह रहे हैं —

तोमारइ विश्व आनन्दमय शोभासुखपूर्ण।

(आमि) आपन दोषे दुःख पाइ हे वासना अनुगामी ॥

अर्थात् हे भगवान्! यह विश्व तुम्हारा ही है और आनन्दमय, शोभा और सुख से पूर्ण है। वासना का अनुगमन करनेवाला मैं अपने ही दोष से दुःख पाता हूँ।

अहंभाव और वासना के द्वारा हमारा चित्त विस्तृत और विकृत हो जाता है और इसी कारण विरहव्यापी दिव्य आनन्द विकृत होकर हमारे सामने पुनः-अपुनः सुख-दुःख आदि दुष्टों के रूप में प्रकट होता है। कामना का मूल है अज्ञान अहंभाव इसी अहंभाव के बल होकर हम हम विस्व की सभी वस्तुओं को अपनेसे भिन्न और पृथक् समझ कर बड़ी व्यग्रता के साथ उन्हें पकड़ने जाते हैं, उनपर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं और इस कारण जो हमारे मन प्राप्ति में विघ्नोत्पन्न होता है वही है कामना यह दिव्य आनन्द की एक विकृति है। इस अहंभाव और कामना को निर्मूल्य कर दें तो हम ब्रह्मात्मा ही सुख-दुःख के दुष्टों को पार कर शाश्वत आनन्द में प्रतिष्ठित हो सकते हैं और इसीका नाम है अमृतत्व की प्राप्ति। इसलिये स्थाप्य करना होना अहंकार का कामना का—किसी बाह्य विषय का या संसार का नहीं। उन्हे योगी तो यह कहने है -

यह मसार मजार कृत् ।

आमि छाह-बाई आर मजा लटि ॥

यह मसार आनन्द का घर है। मैं जाऊँ-मीऊँगा और मजा लट्गा।

गीता के प्रारंभ सभी व्याख्याकारों ने योग का अर्थ पानञ्चक दर्शन का चित्तवृत्तिनिरोधक्य रासयोग समझा है। परन्तु आध्यात्मिक साधना की अन्त्यमुक्ति इस प्रारंभिक म प्राचीन काल में चली आ रही बहुत प्रकार की राग-आपनाओं को नाना प्रकार से धेरीबल दिया जा सकता है। यह प्रारंभ है योग की सीधे-आरे तीर पर दो मार्गों में विभक्त करना—गिरप्राप्त और हिरण्यगर्भप्राप्त। गिरप्राप्त को रासयोग कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—मन्त्रयोग इन्द्रिय शिवप्राप्ति समासाग (ब्रह्मण पञ्चतमेय के द्वारा शिवप्राप्ति का विधान) और अन्तराग जो हिरण्यगर्भप्राप्त है पानञ्चक दर्शन में ब्रह्म रासयोग।

गीता में योगसमन्वय

भिन्न भिन्न योगों के द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। और एक आदमी के लिये यह संभव ही नहीं कि वह एक जीवन में सब प्रकार के योगों की साधना करके सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करे। परन्तु सभी योगों की जो बाह्य प्रक्रियाएँ हैं उनका अनुसरण पूरा पूरा न कर यदि उनके मूल तत्त्व को, जो सभी योगों में प्रायः एक ही है, ग्रहण किया जाय और उसी तत्त्व के आधार पर एक ऐसे योग का विकास किया जाय जिसमें प्रायः सभी योगों की प्रक्रियाओं का यथासम्भव समावेश हो जाय और सभी योगों की मूलशक्ति का अनुशीलन पूरा पूरा हो जाय तो उसी एक योग के द्वारा ही सभी योगों का फल प्राप्त किया जा सकता है और एक जन्म में उसकी साधना भी पूरी हो जायगी। गीता में इसी प्रकार एक महान् योग-समन्वय करने का प्रयास किया गया है और इसलिये गीता के योग को केवल राजयोग समझना भूल है।

गीता ने विभिन्न स्थानों में योग की विभिन्न सज्ञाओं का प्रयोग किया है। परन्तु उनके अन्दर कोई विरोध नहीं। गीता ने एक ही समन्वयमूलक योग की विभिन्न दृष्टियों से व्याख्या की है। छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि सन्यासी होने के लिये योगी होना चाहिये (५।६ में भी यही कहा है)। और फिर द्वितीय श्लोक में कहा गया है कि योगी होने के लिये सन्यासी होना चाहिये। सब प्रकार के सकल्पों और कामनाओं का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं हो सकता। यहापर गीता ने योग का अर्थ कर्मयोग ग्रहण किया है। परन्तु गीता ने दूसरी जगह यह भी दिखाया है कि इसके अन्दर ज्ञान भी है। उस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज ने कहा है—“उक्तलक्षणे कर्मयोगे ज्ञानमप्यस्ति।” अवश्य ही उन्होंने यहापर सकल्प के त्याग को ही ज्ञान माना है, क्योंकि उनके मतानुसार देह या प्रकृति को आत्मा समझना ही सकल्प है, और इस सकल्प

का जिसमें स्वयं नहीं किया है वह योगी नहीं है। वह प्रायः और
मम प्रकृति के अन्तर्गत है। य सब हमारी वास्तविक सत्ता नहीं है। हमारी
वास्तविक सत्ता है पुरुष या आत्मा। यही साध्य-ज्ञान है। गीता में भी हम
प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान से ही ज्ञानयोग माना है। इस भेद ज्ञान के बिना
हम पुरुष रूप से निष्काम कर्म नहीं कर सकते। संकल्प और कामना में एक
हम युक्त नहीं हो सकते। इस कारण भी रामानुज का यह कहना ठीक
ही है कि ज्ञानयोग कर्मयोग के अन्तर्गत है। तो भी संकल्प का
अर्थ वेहास-बुद्धि मानने की कोई आवश्यकता नहीं। हमारे मन में
लाना प्रकार की वासनाएं उत्पन्न होती रहती हैं। और उन्हें हम
संकल्प कह सकते हैं। तब हम विषय में कोई सम्यक् नहीं कि इन सबका
मूल कारण है वेहासबुद्धि और अहंभाव।

योगसाधनाएं बहुत तरह की हैं परन्तु उन सबका साधारण स्वरूप
है अहंभावमय अज्ञान से ऊपर उठकर ज्ञान में प्रतिष्ठित होना—इस
ज्ञान की उपलब्धि करना कि हम कुछ नहीं हैं। हम अपनी मूल सत्ता
में भगवान् के साथ और सब जीवों के साथ एक हैं तथा अपनी बाह्य
चेतना और कर्म में भी सर्वथा साक्षात् रूप से अपने हृदयस्थित भगवान्
के साथ युक्त रहना—युक्त आसीत मत्परः (२।६१)। और पीता के मत
में यही योग की सर्वप्रधान बात है। इस प्रकार की योग चेतना प्राप्त
करने पर मनुष्य सब दुःखों को पार कर जाता है। प्रकृति की सभी निम्न
प्रक्रियाओं को जीतकर सदा ब्रह्मा की परम शक्ति और आनन्द के अन्तर
निवास करता है। इसी कारण पीता ने योग की सच्चा का निबटा करते
हुए छठ अध्याय में कहा है—

त विद्यां बुद्धिसंयोगविद्योर्न योगसंश्रितम्।

सच्ची योगचेतना प्राप्त हुई है या नहीं इसकी पहचान है समता

हममें कर्म ज्ञान और भक्ति तीनों मिलकर एक हो गये हैं।

गीता में योगसमन्वय

इसीलिये एक दूसरे स्थान में गीता ने समता को ही योग कहा है—समत्व योग उच्यते (२।४८) । एक अन्य स्थान में और भी स्पष्ट रूप से योगी का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयो ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय ।

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चन ॥

गीता (६-७।८)

श्रीअरविन्द की साधनशैली

ऐसा मामला पढ़ना है माना विकास-क्रम का लक्ष्य ही बनना की अभिनायिका प्रभावशाली बनाना हो। मनुष्य की चेतना अपने आपमें कभी अपूर्ण और अज्ञानमय सत्ता है। यह निश्चित रूप से इन्द्रिय और विरोधमूलक है। अहंकार इसका मौलिक गुण है। "म" शब्द यह "मे" और "तू" और "वह" के एक ही भाषा में ओनप्रोत्त है। जैसे इसका ज्ञान मापेज है जैसे इसके मुख-मुख भी इन्द्रिय और मापेज है। इसकी कर्तृत्व-शक्ति भी जैसे ही बिगो से संचालित होती है।

शक्ति की अपने आपमें यह माप है कि इन्द्र और विविधा की स्थिति अलग नहीं हो सकती। इसमें परे एक ऐसी स्थिति अवस्थानावी है जिसमें कि ये इन्द्र और विविधा न हो और एक अनुकूल समन्वय चरितार्थ हो। एक ऐसी पूर्णता की स्थिति अवाध्य मानस और निर-वेद्य ज्ञान की अवस्था मनुष्य की वर्तमान चेतना का मानो अनिवार्य संकेत और लक्ष्य हो। यह उद्देश्य आज कोई नहीं बात भी नहीं है। मनुष्यशक्ति के इतिहास में अनेक आध्यात्मिक बीरों ने इसके लिए अपना जीवन अर्पण दिया। श्रीअरविन्द के विचार की मौलिकता यह है कि ये उस उद्देश्य को कुछ देने-गिने बीरों के लिये ही नहीं बल्कि मनुष्य मात्र के लिये विकास में निर्धारित वस्तुता है। उनका कहना है कि मानव चेतना के अन्दर कुछ निश्चित संकेत हैं जो अतिमानवता की अवस्था साधना की प्रकट करने हैं। यही अतिमानवता देवत्वस्थिति है।

परन्तु यह प्राप्त कैसे हो ? मान लिया कि बुद्धि इस लक्ष्य और उद्देश्य को स्वीकार करती है, परन्तु उपाय और साधना का प्रश्न तो बहुत जटिल है।

निश्चय ही यह प्रश्न बहुत कठिन है। इस साधना की कठिनाई के कारण से ही मनुष्य साधारणतया उस उद्देश्य को भी असम्भव कहने लगता है। परन्तु क्या 'योग' इसी प्रश्न का सनातन उत्तर नहीं है ? ईश्वर-भक्ति और साधना-अभ्यास इसीके ही उपाय नहीं है ? हा, जरूर। परन्तु आध्यात्मिक साहित्य में अनेक योग अथवा भक्ति और साधना-अभ्यास की अनेक शैलियाँ देखने में आती हैं। एक सामान्य जिज्ञासु उनको यथार्थ रूप से समझने में समर्थ नहीं होता। उसकी बुद्धि उन पद्धतियों के सूक्ष्म भेदों में चकरा जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हर एक शैली और पद्धति की कुछ उपयोगिता है। परन्तु उन सबकी तुलनात्मक यथार्थता की जाच एक विचारक जिज्ञासु के लिये आवश्यक है।

ठीक यही श्रीअरविन्द के जीवन की प्रमुख खोज रही है। मानो वे भिन्न भिन्न योगों और अभ्यासों के तथ्य को जानना चाहते हों। उनकी यह लम्बी खोज उनके एक बृहत् ग्रन्थ, 'The Synthesis of Yoga' जो कि आर्य के पन्नों में लगभग ६ वर्ष तक धारावाहिक छपता रहा, में निरूपित है। आशा है कि वे सब लेख स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में छाप दिये जायेंगे। 'The Synthesis of Yoga' अर्थात् 'योग-समन्वय' में एक पूर्णयोग का प्रतिपादन है जो हर प्रकार की एकाग्रता को छोड़ते हुए सम्पूर्ण जीवन की पूर्णता और साधना के उपाय उपस्थित करता है। इस साधनशैली की सामान्य रूपरेखा हम यहाँ देना चाहते हैं।

सबसे पहले यह कह देना आवश्यक होगा कि श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य मानव-चेतना के सम्पूर्ण स्वरूप को बदलना है। जहाँ

यह चेतना इस समय बहुकुरमयी होत हुए पशुओं के बाह्य रूपों में स्थित हो जाती है वही अपने परिचित स्वप्न में यह विषय-सत्ता के अक्षण्ड आत्म-सत्त्व को ग्रहण करनेवासी होगी। मानव चेतना का देव-चतुष्ता में स्थापन करने के लिये चेतना की सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग करना होगा अर्थात् ज्ञान कर्म और भक्ति तीनोंका एक समन्वय में करने के उद्देश्य से व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार ज्ञान कर्म या भक्ति की प्रधानता का विशेष उपयोग करेगा। इस प्रकार व्यक्ति के पूर्ण तथा सर्वांगीय विकास के लिये यत्न करना ही जीवन का उद्देश्य है। साथ ही यह मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्वीकार करना होगा कि हर व्यक्ति की ज्ञान कर्म अथवा भक्ति में अपनी विशेष रुचि होती है। इस रुचि या प्रवृत्ति का उसे पूरा उपयोग करना चाहिये। उसके लिये इसकी प्रवृत्ति ही उसके मार्ग-विशेष है। इसको लकर वह अपनी साधना शुरू करे, और बढ़ावे। परन्तु सम्पूर्ण चेतना के स्थापन के लिये उसे दूसरे पक्षों को भी विकसित करना होगा। ऐसा न करने से उसके प्रबल भाव में भी अपूर्णता रह जायगी। जैसे भक्त की भक्ति बिना कुछ ज्ञान के अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकती।

जीव के समय में जीव विज्ञान रूप में कुछ शारीरिक प्रक्रियाओं अथवा ज्ञानपान के नियमों का ही नाम पड़ा गया था। दूसरे सबों में योग शारीरिक समता का अभ्यास बन गया था या व्यवहार की एक सर्वांगी हो गया था। श्रीमद्भिरुद्ध का योग कई व्यावहारिक कर्मों की अपनी अपनी अलग उपयोगिता मानता हुआ भी अपना विशेष ध्यान चलाना की वृत्ति अथवा शक्तियों के व्यवहार पर रक्ता है। बुद्धिमान के लिये यह श्रीमद्भिरुद्ध को स्वीकार न होगा कि रसनेश्वर को जीतने के लिये भोजन का नियन्त्रण कुछ बाह्य व्यावहारिक नियमों द्वारा किया जाय। उपवास एक प्रसिद्ध और प्राचीन आध्यात्मिक साधन है। परन्तु के बहुत इसके पास में नहीं क्योंकि साधारणतया उपवास में

मनुष्य भोजन का अधिक चिन्तन करता है अथवा उसके बाद विशेष लालच में खाता है। रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में साधना का लक्ष्य यह है कि व्यक्ति आवश्यकता के अनुसार बिना लालच वा अरुचि के आन्तरिक समतापूर्वक अथवा हर स्थिति में समान प्रसन्नता से भोजन करे। इस अवस्था को प्राप्त करना लक्ष्य है। उसके लिये सदा गम्भीर चित्त की अभीप्सा होनी चाहिये। उसके लिये कभी उपवास का उपयोग भी किया जा सकता है। परन्तु उपवास अपने आपमें कोई आध्यात्मिक अर्थ नहीं रखता और बलात्कार के रूप में तो वह निश्चित ही हानिकारक साबित होता है।

बलात्कार का विचार श्रीअरविन्द के योग में स्थान नहीं रख सकता। साधक कई बार ध्वराकर, जो इन्द्रिय-विषय उसे ज्यादा तग करता है उसीके प्रति वह विशेष बलात्कार की भावना लेकर उससे उलटा करना चाहता है। जैसे यदि किसी का मन बार बार स्वादिष्ट पदार्थों के पीछे भागता हो तो वह अपने प्रयत्न में कुछ हारा हुआ सा मानो चौंककर अत्यन्त विरोधी कर्म पर उतारू हो जाय। ऐसी चेष्टा वास्तव में सफल नहीं हो सकती। किसी क्लिष्ट वृत्ति के साथ बिगड़े हुए बच्चे की तरह वर्तना योग्य है। जैसे बिगड़े हुए बच्चे को सुधारने के लिये यदि उसे ताड़ना की जाती है तो अन्त में उसे समझाया भी जाता है कि क्यों योग्य व्यवहार ज्यादा अच्छा है। उद्देश्य हमेशा यह होता है कि अन्त में बच्चे को स्वयं यह विश्वास हो जाय कि सभ्य व्यवहार ही उसके योग्य है जिससे वही उसकी सामान्य और सरल स्थिति हो जाय। इसी प्रकार साधक के लिये भी आवश्यक है कि वह असीम वीरज के साथ धीरे धीरे मन को मनाता चला जाय जिससे उसका स्वभाव एक अश अथवा दूसरे अश में बदलता रहे। बलात्कार को हम बिल्कुल निरर्थक नहीं कह सकते, बच्चे को ताड़ना की ही जाती है। उसे कई बार जवर्दस्ती भी रोका जाता है, परन्तु आन्तरिक वृत्ति का रूपान्तर, स्वभाव

का आत्मिक परिवर्तन उससे नहीं होता। बलि को बचाने के लिये उसे दबा नहीं सकते बल्कि उसे ज्ञान और सहानुभूति के साथ मनान की क्रिया करनी आवश्यक होती है।

स्वभाव के आन्तरिक प्रेरण-आर्षों को बचाना बड़े वैश्व का काम है। परन्तु जब किसी योगिक बीबी का मर्याद ज्ञान हो जाय तब जल्दी ही थोड़ी बहुत सफलता अनुभव में आने लगती है। वह सफलता स्वयं ही साधक का उत्साह बढ़ाती है और साधना का कम अधिकाधिक आनन्द का मार्ग बनता जाता है।

बीजार्चित्र का योग विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक है। साधना के सिद्धान्त जकर सबके लिये बराबर जाय है परन्तु जिसके लिये किस समय जबवा किस अवस्था में कैसी साधना होनी चाहिये यह व्यक्ति के आन्तरिक विकास और स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली बात है। यहीपर वास्तव में गुरु की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। साधना और योग में पुस्तक को पढ़कर इसीलिये सफलता नहीं होती है कि इनका जम-झंझ बड़े सूक्ष्म है। अवस्था और व्यक्ति के भेद से इनके जम में भ्रम करना आवश्यक होता है। बीजार्चित्र एक स्थान पर कहते हैं कि वास्तव में योग का मूढ़ परमात्मा है यद्यपि विषय-व्यक्तियों को छोड़कर सामान्यतया साधक के लिये सरीरवादी मूढ़ आवश्यक होता है। मूढ़ अपने आत्मबल से सूक्ष्म रूप में साधक की अस्म-विज्ञाता को ज्ञात करता है और अपने उसी मूढ़ प्रभाव द्वारा उस भिन्न भिन्न स्थितियों में से सुकमतापूर्वक सुरक्षित गुजारता हुआ ऊर्ध्वमुखी चेतना के मार्ग पर लिये चलता है। परन्तु जब साधक योगान् क साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर लेता है और उस सम्बन्ध का भाव स्थायी रहन लगता है तब वह आध्यात्मिक प्रीति को प्राप्त करता है। और उस समय हम कह सकते हैं कि व्यक्ति स्वतन्त्र आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर रह सकता है। वैस गुरु का अधिकार भी अध्यात्म में बाह्य

नियन्त्रण नहीं हो सकता, बल्कि उत्तरोत्तर जैसे साधक अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है वह गुरु की भावना को अपनी आन्तरिक प्रेरणा के रूप में अनुभव करने लगता है।

साधारणतया योग का उद्देश्य समाधि-अवस्था और उसका आनन्द माना जाता है। ससार का इसके लिये त्याग भी आवश्यक समझा जाता है। भारतीय अथवा सामान्य आध्यात्मिक साहित्य में ससार आध्यात्मिक जीवन का विरोधी ही माना जाता है। केवल गीता एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है जिसमें इस विरोध को अस्वीकार ही नहीं किया है बल्कि आध्यात्मिकता का वास्तविक क्षेत्र ही ससार माना है। श्रीअरविन्द के योग का लक्ष्य अन्त में मनुष्य मात्र की चेतना को बदलना है। इसे वह विकास का निश्चित परिणाम बतलाते हैं। परन्तु वह स्थिति दूर की चीज है। यद्यपि दूर की होने से कुछ कम सम्भव नहीं। यह भी बात नहीं कि हम इस समय उसकी प्राप्ति के लिये कुछ कर नहीं सकते। हमारा पुरुषार्थ अभीसे शुरू होना चाहिये और जैसे-जैसे हमारा सार्थक पुरुषार्थ बढ़ता जायगा वैसे-वैसे ही वह स्थिति हमारे अधिकाधिक निकट आती जायगी।

श्रीअरविन्द का योग शरीर और ससार को तुच्छ नहीं मानता। इसका अन्तिम ध्येय यह है कि मन, बुद्धि तथा शरीर रूपान्तरित होकर आत्मा के प्रकाश को प्रकट करे। इस समय मानव सत्ता के ये अङ्ग स्थूलता और जडता में ग्रस्त हैं। इसी कारण इस योग का लक्ष्य यह है कि सम्पूर्ण जीवन और ससार को आध्यात्मिक बनाया जावे न कि यह कि व्यक्ति अकेला ससार को छोड़कर कहीं एकान्त में रहते हुए आत्मानन्द का उपभोग करे।

वर्तमान समय में जब कि सामान्य वायुमंडल अभी दूसरे प्रकार का है साधना की दृष्टि से एकान्त-सेवन आवश्यक हो सकती है परन्तु इस योग का अन्तिम लक्ष्य निश्चित रूप से यह है कि सम्पूर्ण जीवन और

समार आत्म प्रकाश से आलोकित हो जाय।

इसी सम्बन्ध में हमें धीमरदिन्य के योग की बोहरी मति का जिक्र कर देना होगा। आरोहण (Ascent) और अवरोहण (Descent) उस बोहरी मति के अंग हैं। व्यक्ति अपनी साधना द्वारा ऊर्ध्वमति को प्राप्त होता है। वह अपनी वर्तमान चेतना से उठकर देव चेतना की ओर बढ़ता है। इसके उत्तर में देवचतना अवतरित होकर उसकी सामान्य चेतना को क्वांस्तरित करती है। यह विचार धीमरदिन्य के योग में विशेष महत्त्व रखता है।

इस समय तक हमने इस योग के कुछ सामान्य विचार ही दिये हैं। साधन-संघी की विशेष प्रक्रिया नहीं थी। अब हम उसका वर्णन करना चाहेंगे।

इस साधना के तीन मौलिक अवस्थाएँ हैं। एक अभीप्सा (Aspiration) दूसरा परित्याग (Rejection) और तीसरा आत्मोद्घाटन (Opening oneself to Divine influence)। इन तीनोंका अब बड़ा बड़ा वर्णन देना आवश्यक है। अभीप्सा मन्मीर आत्मविज्ञासा की अन्तरावस्था है। यह ऊर्ध्वमुखी तथा अन्तर्मुखी चेतना का प्रकलन है। यह पूरे दिल की माग का चाहना है। यह अपने मन्मीर उत्पन्न की आत्मन्वयमी मविष्यभाषना है। या यूँ कहिये यह आत्मा की अपने पूर्णानन्द के लिये भोज है। अथवा यह आत्मा का सम्बिरदानन्द परब्रह्म की परमप्रेममयी तथा परमानन्दवायिनी पुकार को सुनना है या मुनकर मुह उठायें ताकना तथा यह पहिचानने की कोसिस करना है कि वह मधुर प्वनि किधर से जायी थी ?

परन्तु अभीप्सा के इस स्वल्प का आधार है अनुभव और साधक कुछ अव्याम के बाह ही उसे स्पष्ट पहिचानन लयता है।

प्रारम्भ में तो इसे साधारण इच्छा के समान ही समझा जायगा यद्यपि ये दो भिन्नार्थ या चेष्टार्थ विस्तृत विषय हैं। अभीप्सा केवल

शुभेच्छा नहीं। इन दोनों के अन्तर को अनुभव कर लेने से साधना में बड़ी सहायता मिल सकती है।

इच्छा वास्तव में हमारी बाह्य चेतना—सामान्य मन, बुद्धि की चेतना—है जो बाह्य जगत् के पदार्थों में रूप, रस, गन्ध आदि का ग्रहण करती है। इन रूप रस आदि के लिये हमारे मन में प्राप्ति अथवा त्याग की प्रेरणायें पैदा होती हैं, वे यथार्थ भाव में इच्छायें होती हैं। इसके विपरीत जब हम बाह्य पदार्थों के ऊपरी रूप, रस, गन्ध को नहीं, बल्कि उनके आन्तरिक भाव और सत्य को ग्रहण कर रहे होते हैं तथा ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं तब हम अपने आपमें भी एक गम्भीर प्रेरणा अनुभव करते हैं। वह गम्भीर प्रेरणा हमारी अभीप्सा होती है। तब हमारी अन्तर्स्थित सत्ता बाह्य पदार्थों की अन्तर्स्थित सत्ता को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही होती है।

एक दूसरा मौलिक अन्तर यह है कि इच्छा हमारे व्यक्तित्व का एक आशिक भाव होता है। अभी एक इच्छा है, अभी दूसरी इच्छा है, जो पहली से बिल्कुल उलटी है। इच्छा अपने आपमें विरोध-भाव से भी युक्त हो सकती है। हम अनेक बार यह अनुभव करते हैं कि हम किसी काम को न करना चाहते हुए भी मानो जबरदस्ती उसमें खिंचे चले जाते हैं। पश्चात्ताप और दुःख उसी विरोध के कारण ही होते हैं। अभीप्सा, इसके विपरीत, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का बल और भाव रखती है। इस में आशिकता नहीं। इसलिये इसमें विरोध का कमी नाम को भी संस्कार नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष ही साधक को धीरे धीरे 'इच्छा' का अभ्यास छोड़कर अपनी सब व्यस्तताओं में 'अभीप्सा' से काम लेना होगा।

अभीप्सा हम किस लक्ष्य के लिये करे? ऊपर हम कह चुके हैं कि यह अन्तरात्मा की मीठी ध्वनि है जो हर अनुभव को गम्भीर भाव से ही ग्रहण करना चाहती है। जीवन की स्थूल स्थितियों में साधक की

अभीप्सा के प्रत्यक्ष ही अनक रूप होंगे। वह अभीप्सा करेगा अधिक। बिक सत्य के लिये गुड़गा और पवित्रता के लिये अन्तर्मुक्ति के लिये ऊर्ध्वपति के लिये अथवा अभीप्सा स्वर्ग के लिये। किसी व्यक्ति के प्रति वह कभी ईर्ष्या अनुभव करता है तो सम्भवतः तुरन्त संभलकर वह अभीप्सा करेगा या भी अभीप्सा बिक से चाहता करेगा कि आये स वैसी स्थिति में वह अटूट प्रेम-भाव को अनुभव कर सके। अथवा वह अभीप्सा करता है कि वह उसी क्षण उसके प्रति पूरे प्रेम को अनुभव करे। इस प्रकार, जब जब उसकी बुद्धि विचलित होती है अथवा भाव से प्रेरित होती है, तब तब वह सचेत होकर उसके स्वान पर गुड़ भाव की अभीप्सा करता है।

हम कह चुके हैं कि बीभर्षिण्य के बीभ का वृत्त नम ह परिष्कार। यह कम वास्तव में अभीप्सा के साथ समा हुआ ही है। गुड़ भाव की अभीप्सा के लिये वर्तमान अथवा भाव का परिष्कार आवश्यक है। साधक की अपूर्ण अवस्था में बार बार बुद्धि और कमिया आयेगी ही। ये हमारी अपर प्रकृति की गतियां हैं। इसलिये इनका परिष्कार योग का एक अङ्ग होना अनिवार्य है।

तीसरे कम को हम आत्मोद्धारण कह चुके हैं। यह भी वास्तव में अभीप्सा से बनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली गिया है। इसमें हम यह अभीप्सा करने हैं कि गुड़ सत्य वैसी सक्ति अथवा सन्निधानम् ही हमारी प्रत्येक चेष्टा और प्रेरणा को बलावे। हम अपने मानवी भावों और पक्षपातों को छोड़ वैसी बनें। इस विशेष प्रकार की अभीप्सा में साधक एक सम्भीर आत्म-स्वातन्त्र्य का आनन्द अनुभव करता है। इससे समर्पण है तथा वैसी जाति के आवाहन की भावना है।

समय स्थिति और मनोभाव के अन्तर से साधक की आन्तर किया कभी एक कम का उपयोग करेगी और कभी दूसरे का। बीरे बीरे जैसे साधक का विकास होना जाता है वह अधिकाधिक अपने आत्मतत्त्व

की ओर बढ़ता चला जाता है। इस गति में वह एक अवस्था के बाद सामान्यतया इच्छा को अपनेसे बाहर अनुभव करने लगता है। वह स्थिति निश्चित ही बहुत सुन्दर है। उसके बाद इच्छाओं पर एक सहज अधिकार होता चला जाता है।

इन क्रमों के अलावा श्रीअरविन्द 'standing apart' अर्थात् 'अलग हटकर देखना', अभ्यास का एक स्वतन्त्र क्रम एक जगह वर्णन करते हैं। मन के प्रवाह में अनेक भाव और भावनाएँ पैदा होती ही रहती हैं। हम साधारणतया उनके साथ लिप्त रहते हैं। 'वही हम है', ऐसा हमारा भाव होता है। परन्तु है यह भ्रम। हम स्वयं भाव और विचार नहीं, बल्कि वे हमारे हैं, हम उनमें अलग हैं। हम चाहे तो उस समय उन्हीं भावों तथा विचारों को ग्रहण करें अथवा अन्य किन्हींको। इस अलग-भाव की सत्यता में स्थित होने का प्रयत्न ही 'standing apart' का अभ्यास है। जैसे कि कई बार देखने में आता है, जब कोई व्यक्ति अपने विचारों पर अधिकार खो बैठता है, उसका मन एक सरकारी सड़क बन जाता है जिसपर उसके विचारों के घोड़े बेरोकटोक दौड़ा करते हैं, तब वह अपने आपको बेहद दुःखी अनुभव करता है। उस स्थिति में यदि वह व्यक्ति कभी विचारों से अलग होकर खड़ा होने में सफल होता है तो वह उस समय अनुभव करता है कि उसके विचारों की घुड़दौड़ बन्द हो जाती है। 'standing apart' का अभ्यास अपने विचारों पर अधिकार प्राप्त करने का एक अनुपम उपाय है।

परन्तु यह अभ्यास भी अभीप्सा के अन्तर्गत माना जा सकता है। अभीप्सा अन्तस्तम भाव की प्रेरणा है। अन्तस्तम भाव में स्थित होकर ही हम चेतना के साधारण प्रवाह से standing apart को अनुभव करेंगे।

हमारा श्रीअरविन्द की साधनशैली का विवरण कुछ लम्बा हो गया

है। परन्तु वास्तव में अभी कपरेसा भी पूरी नहीं हुई। विज्ञानों साधक को पूरी तृप्ति के लिये निश्चय ही मूल धर्मों का स्वाध्याय करना होगा। भेद के अन्त में योगविषयक सुलभ धर्मों का नाम दे दिया गया है। यहाँ हम श्रीवरविन्द के योगसम्बन्धी वाक्या का एक संकलन देते हैं जो सम्भवतः पाठकों के लिये अधिकार होगा—

‘योग के जिस मार्ग का यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका उद्देश्य अन्य योगमार्गों से भिन्न है। हमारे योगमार्ग का लक्ष्य केवल सामान्य ज्ञान अकालेखना से ऊपर उठकर परमात्मभाव को प्राप्त होना ही नहीं है प्रत्युत उस परमात्मभाव की विज्ञान-शक्ति को इस मन बुद्धि प्राण और चरीर के अन्त में फैलाना इनका दिव्य बना देना इनमें भ्रमरान् को प्रवेश करना और बड़े पार्ष्व प्रकृति में दिव्य जीवन का निर्माण करना इसका लक्ष्य है।

(योगप्रदीप पृष्ठ ३)

‘इस योग की स्थापना का कोई बंधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यान का कोई निश्चित प्रकार अथवा कोई मन्त्र या उन्म नहीं है। यह स्थापना साधक के हृदय की अभीप्सा से प्रारम्भ होती है। स्थापना प्रारम्भ में अपने ऊर्ध्वस्थित या अन्तर्स्थित आत्मा का ध्यान करता है अपने आपको अवलम्बन के अधीन कर देता है ऊर्ध्वस्थित भाग्यजन शक्ति और उसके कार्य की ओर अपने आपको लोभ देना और इन बातों के विरुद्ध जो कुछ है उसका परित्याग करना है। यहाँ अभीप्सा तथा धर्यानमि से ही यह आरपोद्भाव बनता है।

(योगप्रदीप पृष्ठ ८५)

पहले के योग में आत्मा के अनुभव की ही प्राप्ति की ओर आत्मा सदा मुक्त है और परमात्मा से अधिकृत है। इसलिये उन चोदों में उन्म ही अथ में प्रकृति को बदलने का ध्यान किया जाता था जिसने से कि उस आत्मज्ञान और आत्मानुभव में मानव प्रकृति बाधक न रहे ।

कुछ थोड़े से ही लोग और भो भी प्राय 'सिद्धि' प्राप्त करने के लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीर तक को बदलने का यत्न करते थे। पृथ्वी की पार्थिव चेतना को बदलकर उसमें नवीन प्रकृति प्रकट करने का प्रयास उनका नहीं था।' (योगप्रदीप, पृ ७)

‘इस योग का सम्पूर्ण तत्त्व यही है कि अपने आपको एक श्रीभगवान् के हवाले कर दो, और किसी पुरुष या पदार्थ के हवाले नहीं, और भगवती माता के साथ युक्त होकर विज्ञानमय श्री-भगवान् की परा ज्योति, शक्ति, विगलता, शान्ति, पवित्रता, सच्चैतन्य और आनन्द को अपने अन्दर ले आओ।' (योगप्रदीप, पृ०४५)

‘योग की प्रक्रिया यह है कि मानव आत्मा को चेतना की उन अहम्मन्य अवस्थाओं से जो वस्तुओं की बाह्य प्रतीतियों और उनके आकर्षणों में ग्रस्त रहती हैं, पराङ्मुख करके उम उच्चतर अवस्था की ओर अभिमुख कर देना जिसमें कि परात्पर और विराट् ईश्वर अपने आपको व्यक्तिमय माचे में उडेल सकें और उसे रूपान्तरित कर सकें।' (चार साधन पृ १२)

‘मन में समझने और मकल्प करने का दबाव तथा हृदय में भगवान् के प्रति भावनाभरी उमग ये दोनों योग के सबसे पहले क्रियाजनक हैं।' (योग के आधार, पृष्ठ १९)

‘असली इलाज शान्ति है। कठिन परिश्रम में लगकर मन को दूसरी ओर फेरे रखने से केवल अस्थायी आराम ही मिलेगा।' (पृष्ठ २५)

‘जितना ही अधिक तुम यह अनुभव कर सकोगे कि मिथ्यापन तुम्हारा अपना अंग नहीं है और यह तुम्हारे पास बाहर से आया है, उतना ही अधिक इसका त्याग करना तथा इसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये मुगम हो जायगा।' (पृष्ठ २५)

योगविचार

‘अपनी कमकारियों और कुप्रवृत्तियों का पहचानना और उनमें निवृत्त होना यही मुक्ति की ओर जाने का मार्ग है। (पृष्ठ २८)

‘बाह्य अवस्थायों की अपेक्षा एक आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्वपूर्ण है। यदि कोई इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने स्वास करने के लिये बहुत अपना निजी आध्यात्मिक सामुर्दस्त उत्पन्न कर सके और उसमें रह सके तो यह उन्नति के लिये ठीक अवस्था होगी। (पृष्ठ ३१)

अभीप्सा तीव्रता के साथ करों पर बिना अभीष्ट हुए। (पृष्ठ ४०)

अज्ञा भवदान् पर भरोसा आवश्यक शक्ति के प्रति भाव्य समर्पण और आत्मदान से आवश्यक और अपरिहार्य है। परन्तु ईश्वर पर भरोसा करने के बहाने आत्मन्य और दुर्बलता को नहीं जाने देना चाहिये। इस अज्ञा और भरोसे के साथ साथ

अनधिक अभीप्सा और आवश्यकता के मार्ग से जानेवासी स्वभावों का निरन्तर त्याग से भी वस्तु रहने चाहिये। (पृष्ठ ५)

‘इस योग की इससे अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं कि साधक अपनी समस्त वृत्तियों को एकाग्र करे, ध्यान करे, अधिक उपयुक्त यह है कि यह ध्यान वह हृदय में करे और वहाँ भावा (भवदान् के क्रियाशील स्वरूप) की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वह उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले ल और अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा उसकी शैतना को क्षामस्थिति कर ले। (पृष्ठ ५९)

‘प्रत्येक सच्ची अभीप्सा अपना परिणाम लाती है। (पृष्ठ ६०)

‘योग में तो आन्तर विजय के द्वारा ही बाह्य विजय हुआ करती है। (पृष्ठ ६१)

‘जब जिन अज्ञानमय क्रियाओं का तुम्हें भान हो रहा है उनका दूरता के साथ त्याग करना होया और अपने मन और प्राण को आपसत शक्ति के कार्य के लिये एक धान्ता और सुख जोष बना देना होगा। (पृष्ठ ७)

श्रीअरविन्द की साधनशैली

‘योगसाधन का अर्थ ही यह है कि साधना करनेवाला समस्त आसक्तियों पर विजय पाने तथा केवल भगवान् की ओर ही अभिमुख होने का मकल्प रखता है।’ (पृष्ठ ७५)

‘इस योग का सारा सिद्धान्त ही यह है कि आते हुए भागवत प्रभाव के लिये साधक अपने आपको उद्घाटित करे।’ (पृष्ठ ७५)

‘यह अभीप्सा करे कि दूसरी कोई भी शक्ति न तो उसपर प्रभाव डाल सके और न उसका नेतृत्व कर सके।’ (पृष्ठ ८०)

‘न उतावली हो न आलस्य, न राजसिक अति-उत्कठा हो न तामसिक निरुत्साह—बल्कि एक धीर और मतत पर शान्त आवाहन तथा क्रिया होनी चाहिये।’ (पृष्ठ ८९)

श्रीअरविन्द की योगसम्बन्धी सुलभ पुस्तके -

१ हमारा योग और उसके उद्देश्य

२ योगप्रदीप

३ योग के आधार

४ चार साधन

अदिति

भीमरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से
प्रेरित त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक अदिति कार्यालय भीमरविन्द आश्रम पांडीचेरी

